प्रपञ्चके असत्यत्वमें हेतु

आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा।
वितथैः सदृशाः सन्तोऽवितथा इव लक्षिताः॥ ३१॥

जो आदि और अन्तमें नहीं है वह वर्तमानमें भी वैसा [अर्थात् असद्रूप] ही है। ये पदार्थसमूह असत्के समान होकर भी सत्-जैसे दिखायी देते हैं॥ ३१॥

सप्रयोजनता तेषां स्वप्ने विप्रतिपद्यते।
तस्मादाद्यन्तवत्त्वेन मिथ्यैव खलु ते स्मृताः॥ ३२॥

उन (जाग्रत्-पदार्थों) की सप्रयोजनता स्वप्नावस्थामें असिद्ध हो जाती है। अतः आदि-अन्तयुक्त होनेके कारण वे निश्चय ही मिथ्या माने गये हैं॥ ३२॥

वैतथ्ये कृतव्याख्यानौ श्लोकाविह संसारमोक्षाभाव-प्रसङ्गेन पठितौ॥ ३१-३२॥

वैतथ्यप्रकरणमें इन दोनों श्लोकोंकी व्याख्या की जा चुकी है। यहाँ संसार और मोक्षके अभावके प्रसङ्गमें उन्हें फिर पढ़ दिया है॥ ३१-३२।



सर्वे धर्मा मृषा स्वप्ने कायस्यान्तर्निदर्शनात्।
संवृतेऽस्मिन्प्रदेशे वै भूतानां दर्शनं कुतः॥ ३३॥

जब कि शरीरके भीतर देखे जानेके कारण स्वप्नावस्थामें सभी पदार्थ मिथ्या हैं तो इस संकुचित स्थानमें (निरवकाश ब्रह्ममें) ही भूतोंका दर्शन कैसे हो सकता है?॥ ३३॥

निमित्तस्यानिमित्तत्वमिष्यते भूतदर्शनादित्ययमर्थः प्रपञ्च्यत एतैः श्लोकैः॥ ३३॥

इन श्लोकोंद्वारा "निमित्तस्यानिमित्तत्वमिष्यते भूतदर्शनात्" (४। २५) इस श्लोकके ही अर्थका विस्तार किया गया है॥ ३३॥



स्वप्नका मिथ्यात्वनिरूपण

न युक्तं दर्शनं गत्वा कालस्यानियमाद्गतौ।
प्रतिबुद्धश्च वै सर्वस्तस्मिन्देशे न विद्यते॥ ३४॥

देशान्तरमें जानेमें जो समय लगता है [स्वप्नावस्थामें] उसका नियम न होनेके कारण स्वप्नके पदार्थोंको उनके पास जाकर देखना तो सम्भव नहीं है। इसके सिवा जागनेपर भी कोई उस (स्वप्नदृष्ट) देशमें नहीं रहता॥ ३४॥

जागरिते गत्यागमनकालो नियतो देशः प्रमाणतो यस्तस्यानियमान्नियमस्याभावात्स्वप्ने न देशान्तरगमनमित्यर्थः॥ ३४॥

जागृतिमें जो आने-जानेके समय और प्रमाणसिद्ध देश नियत हैं उनका नियम न होनेके कारण स्वप्नावस्थामें देशान्तरमें जाना नहीं होता—यह इसका अभिप्राय है॥ ३४॥



मित्राद्यैः सह संमन्त्र्य संबुद्धो न प्रपद्यते।
गृहीतं चापि यत्किंचित्प्रतिबुद्धो न पश्यति॥ ३५॥

[स्वप्नावस्थामें] मित्रादिके साथ मन्त्रणा कर [वह स्वप्नदर्शी पुरुष] जागनेपर उसे नहीं पाता; तथा उसने जो कुछ [स्वप्नावस्थामें] ग्रहण किया होता है उसे जागनेपर नहीं देखता॥ ३५॥

मित्राद्यैः सह संमन्त्र्य तदेव मन्त्रणं प्रतिबुद्धो न प्रपद्यते। गृहीतं च यत्किंचिद्धिरण्यादि न प्राप्नोति। अतश्च न देशान्तरं गच्छति स्वप्ने॥ ३५॥

[स्वप्नमें] मित्रादिके साथ मन्त्रणा करके जाग पड़नेपर फिर उसी मन्त्रणाको नहीं पाता और [उस समय] उसने जो कुछ स्वर्णादि ग्रहण किया होता है उसे भी प्राप्त नहीं करता। इसलिये भी स्वप्नावस्थामें वह किसी देशान्तरको नहीं जाता॥ ३५॥



स्वप्ने चावस्तुकः कायः पृथगन्यस्य दर्शनात्।
यथा कायस्तथा सर्वं चित्तदृश्यमवस्तुकम्॥ ३६॥

स्वप्नमें जो शरीर होता है वह भी अवस्तु है, क्योंकि उससे भिन्न एक दूसरा शरीर [शय्यापर पड़ा हुआ] देखा जाता है। जैसा वह शरीर है वैसा ही सम्पूर्ण चित्तदृश्य अवस्तुरूप है॥ ३६॥

स्वप्ने चाटन्दृश्यते यः कायः सोऽवस्तुकस्ततोऽन्यस्य स्वापदेशस्थस्य पृथक्कायान्तरस्य दर्शनात्। यथा स्वप्नदृश्यः कायोऽसंस्तथा सर्वं चित्तदृश्यमवस्तुकं जागरितेऽपि चित्तदृश्यत्वादित्यर्थः। स्वप्नसमत्वादसज्जागरितमपीति प्रकरणार्थः॥ ३६॥

स्वप्नमें घूमता हुआ जो शरीर देखा जाता है वह अवस्तु है, क्योंकि उस स्वप्नप्रदेशस्थ शरीरसे भिन्न एक और शरीर [शय्यापर पड़ा हुआ] देखा जाता है। जिस प्रकार स्वप्नमें दिखायी देनेवाला शरीर असत् है उसी प्रकार जागरित अवस्थामें सारा चित्तदृश्य, केवल चित्तका ही दृश्य होनेके कारण, असत् है—यह इसका तात्पर्य है। प्रकृत अर्थ यह हुआ कि स्वप्नके समान होनेके कारण जाग्रत्-अवस्था भी असत् ही है॥ ३६॥



स्वप्न और जाग्रत्का कार्य-कारणत्व व्यावहारिक है

इतश्चासत्त्वं जाग्रद्वस्तुनः—

जाग्रत्पदार्थोंकी असत्ता इसलिये भी है कि—

ग्रहणाज्जागरितवत्तद्धेतुः स्वप्न इष्यते।
तद्धेतुत्वात्तु तस्यैव सज्जागरितमिष्यते॥ ३७॥

जाग्रत्के समान ग्रहण किया जानेके कारण स्वप्न उसका कार्य माना जाता है। किन्तु जाग्रत्का कार्य होनेके कारण स्वप्नद्रष्टाके लिये ही जाग्रत्-अवस्था सत्य मानी जाती है॥ ३७॥

जागरितवज्जागरितस्य इव ग्रहणाद् ग्राह्यग्राहकरूपेण स्वप्नस्य तज्जागरितं हेतुरस्य स्वप्नस्य स स्वप्नस्तद्धेतुर्जागरितकार्यमिष्यते। तद्धेतुत्वाज्जागरितकार्यत्वात्तस्यैव स्वप्नदृश एव सज्जागरितं न त्वन्येषाम्। यथा स्वप्न इत्यभिप्रायः।

यथा स्वप्नः स्वप्नदृश एव सन्साधारणविद्यमानवस्तुवदवभासते तथा तत्कारणत्वात्साधारणविद्यमानवस्तुवदवभासमानं न तु साधारणं विद्यमानवस्तु स्वप्नवदेवेत्यभिप्रायः॥ ३७॥

जागरितके समान ही ग्राह्य-ग्राहकरूपसे स्वप्नका भी ग्रहण होनेसे इस स्वप्नावस्थाका जाग्रत् कारण है, इसलिये वह स्वप्नावस्था तद्धेतुक यानी जाग्रत्का कार्य मानी जाती है। तद्धेतुक अर्थात् जाग्रत्का कार्य होनेके कारण उस स्वप्नद्रष्टाके ही लिये जाग्रत्-अवस्था सत्य है, औरोंके लिये नहीं; जैसा कि स्वप्न—यह इसका तात्पर्य है।

जिस प्रकार स्वप्न स्वप्नद्रष्टाको ही सत् अर्थात् साधारण विद्यमान वस्तुके समान भासता है उसी प्रकार उसका कारण होनेसे जाग्रत्की भी साधारण विद्यमान वस्तुके समान प्रतीति होती है। किन्तु वस्तुतः स्वप्नके समान ही वह साधारण विद्यमान वस्तु है नहीं—यह इसका अभिप्राय है॥ ३७॥



ननु स्वप्नकारणत्वेऽपि जागरितवस्तुनो न स्वप्नवदवस्तुत्वम्। अत्यन्तचलो हि स्वप्नो जागरितं तु स्थिरं लक्ष्यते।

सत्यमेवमविवेकिनां स्यात्। विवेकिनां तु न कस्यचिद्वस्तुन उत्पादः प्रसिद्धोऽतः—

शंका—स्वप्नके कारण होनेपर भी जाग्रत्पदार्थोंका स्वप्नके समान अवस्तुत्व नहीं है, क्योंकि स्वप्न तो अत्यन्त चञ्चल है, किन्तु जाग्रत्-अवस्था स्थिर देखी जाती है।

समाधान—ठीक है, अविवेकियोंके लिये ऐसी बात हो सकती है; किन्तु विवेकियोंको तो किसी वस्तुकी उत्पत्ति सिद्ध ही नहीं है। अतः—

उत्पादस्याप्रसिद्धत्वादजं सर्वमुदाहृतम्।
न च भूतादभूतस्य सम्भवोऽस्ति कथञ्चन॥ ३८॥

उत्पत्तिके प्रसिद्ध न होनेके कारण सब कुछ अज ही कहा जाता है। इसके सिवा सत् वस्तुसे असत्की उत्पत्ति किसी प्रकार हो भी नहीं सकती॥ ३८॥

अप्रसिद्धत्वादुत्पादस्यात्मैव सर्वमित्यजं सर्वमुदाहृतं वेदान्तेषु ''सबाह्याभ्यन्तरो ह्यजः'' (मु० उ० २। १। २) इति। यदपि मन्यसे जागरितात्सतोऽसत्स्वप्नो जायत इति तदसत्। न भूताद्विद्यमानादभूतस्यासतः सम्भवोऽस्ति लोके। न ह्यसतः शशविषाणादेः सम्भवो दृष्टः कथञ्चिदपि॥ ३८॥

उत्पत्तिके सिद्ध न होनेसे सब कुछ आत्मा ही है; इसलिये वेदान्तोंमें ''सबाह्याभ्यन्तरो ह्यजः'' इत्यादि रूपसे सबको अज ही कहा है। और तुम जो मानते हो कि सत् जाग्रत्‌से असत् स्वप्नकी उत्पत्ति होती है, सो भी ठीक नहीं; क्योंकि लोकमें भूत—विद्यमान वस्तुसे असतका जन्म नहीं हुआ करता। शशशृङ्गादि असत्पदार्थोंका जन्म किसी भी प्रकार देखनेमें नहीं आता॥ ३८॥



ननूक्तं त्वयैव स्वप्नो जागरितकार्यमिति तत्कथमुत्पादोऽप्रसिद्ध इत्युच्यते?

शंका—यह तो तुम्हींने कहा था कि स्वप्न जागरितका कार्य है; फिर ऐसा क्यों कहते हो कि उत्पत्ति सिद्ध ही नहीं होती?

शृणु तत्र यथा कार्यकारणभावोऽस्माभिरभिप्रेत इति—

समाधान-हम जिस प्रकार उनका कार्य-कारणभाव मानते हैं, सो सुनो—

असज्जागरिते दृष्ट्वा स्वप्ने पश्यति तन्मयः।
असत्स्वप्नेऽपि दृष्ट्वा च प्रतिबुद्धो न पश्यति॥ ३९॥

[जीव] जाग्रत्-अवस्थामें असत्पदार्थोंको देखकर उन्हींके संस्कारसे युक्त हो उन्हें स्वप्नमें देखता है, किन्तु स्वप्नावस्थामें भी असत्पदार्थोंको ही देखकर जागनेपर उन्हें नहीं देखता॥ ३९॥

असदविद्यमानं रज्जुसर्पवद्विकल्पितं वस्तु जागरिते दृष्ट्वा तद्भावभावितस्तन्मयः स्वप्नेऽपि जागरितवद्ग्राह्यग्राहकरूपेण विकल्पयन्पश्यति। तथासत्स्वप्नेऽपि दृष्ट्वा च प्रतिबुद्धो न पश्यत्यविकल्पयन्। च शब्दात्तथा जागरितेऽपि दृष्ट्वा स्वप्ने न पश्यति कदाचिदित्यर्थः। तस्माज्जागरितं स्वप्नहेतुरुच्यते न तु परमार्थसदिति कृत्वा॥ ३९॥

जागरित-अवस्थामें असत् अर्थात् रज्जुमें सर्पके समान कल्पना किये हुए अविद्यमान पदार्थोंको देखकर उनके भावसे भावित हो स्वप्नमें भी तन्मयभावसे जागरितके समान ग्राह्य-ग्राहकरूपसे विकल्प करता हुआ उन्हें देखता है। तथा स्वप्नमें भी असत् पदार्थोंको देखकर जागनेपर विकल्प न करनेके कारण उन्हें नहीं देखता। 'च' शब्दसे यह अभिप्राय है कि इसी प्रकार कभी जाग्रत्में देखकर भी उन पदार्थोंको स्वप्नमें नहीं देखता। इसीलिये यह कहा जाता है कि जाग्रत्-अवस्था स्वप्नका कारण है, उसे परमार्थसत् मानकर ऐसा नहीं कहा जाता॥ ३९॥



परमार्थतस्तु न कस्यचित्केनचिदपि प्रकारेण कार्यकारणभाव उपपद्यते। कथम्?—

परमार्थतः तो किसीका किसी भी प्रकार कार्य-कारणभाव होना सम्भव नहीं है। किस प्रकार? [सो बतलाते हैं—]

नास्त्यसद्धेतुकमसत्सदसद्धेतुकं तथा।
सच्च सद्धेतुकं नास्ति सद्धेतुकमसत्कुतः॥ ४०॥

न तो असत् पदार्थ ही असत् कारणवाला है और न सत् पदार्थ ही असत् कारणवाला है। इसी प्रकार सत् पदार्थ भी सत् कारणवाला नहीं है; फिर असत् पदार्थ ही सत् कारणवाला कैसे हो सकता है?॥ ४०॥

नास्त्यसद्धेतुकमसच्छशविषाणादि हेतुः कारणं यस्यासत् एव खकुसुमादेस्तदसद्धेतुकमसन्न विद्यते। तथा सदपि घटादिवस्तु असद्धेतुकं शशविषाणादिकार्यं नास्ति। तथा सच्च विद्यमानं घटादि विद्यमानघटादिवस्त्वन्तरकार्यं नास्ति। सत्कार्यमसत्कुत एव सम्भवति? न चान्यः कार्यकारणभावः सम्भवति शक्यो वा कल्पयितुम्? अतो विवेकिनामसिद्ध एव कार्यकारणभावः कस्यचिदित्यभिप्रायः॥ ४०॥

असत् कारणवाला असत् पदार्थ भी नहीं है—जिस आकाशपुष्प आदि असत्पदार्थका कोई शशशृङ्गादि असत् कारण हो ऐसा कोई असद्धेतुक असत् पदार्थ भी विद्यमान नहीं है। तथा घटादि सद्वस्तु भी असद्धेतुक अर्थात् शशविषाणादि [असत्पदार्थ] का कार्य नहीं है। इसी प्रकार सत् यानी विद्यमान घट आदि किसी अन्य सद्वस्तुका भी कार्य नहीं है। फिर सत्का कार्य असत् ही कैसे हो सकता है? इनके सिवा किसी अन्य कार्य-कारण-भावकी न तो सम्भावना है और न कल्पना ही की जा सकती है। अतः तात्पर्य यह है कि विवेकियोंके लिये तो किसी वस्तुका भी कार्य-कारण-भाव सिद्ध है ही नहीं॥ ४०॥



पुनरपि जाग्रत्स्वप्नयोरसतोरपि कार्यकारणभावाशङ्कामपनयन् आह—

जाग्रत् और स्वप्न असत् होनेपर भी उनके कार्य-कारणभावके सम्बन्धमें जो शङ्का है उसकी निवृत्ति करते हुए फिर भी कहते हैं—

विपर्यासाद्यथा जाग्रदचिन्त्यान्भूतवत्स्पृशेत्।
तथा स्वप्ने विपर्यासाद्धर्मांस्तत्रैव पश्यति॥ ४१॥

जिस प्रकार मनुष्य भ्रान्तिवश जाग्रत्कालीन अचिन्त्य पदार्थोंको यथार्थवत् ग्रहण करता है उसी प्रकार स्वप्नमें भी भ्रान्तिवश [स्वप्नकालीन] पदार्थोंको वहीं (उसी अवस्थामें) देखता है॥ ४१॥

विपर्यासादविवेकतो यथा जाग्रज्जागरितेऽचिन्त्यान्भावानशक्यचिन्तनीयान् रज्जुसर्पादीन् भूतवत्परमार्थवत्स्पृशन्निव विकल्पयेदित्यर्थः कश्चिद्यथा, तथा स्वप्ने विपर्यासाद्धस्त्यादीन्धर्मान् पश्यन्निव विकल्पयति; तत्रैव पश्यति न तु जागरितादुत्पद्यमानानित्यर्थः॥ ४१॥

जिस प्रकार कोई पुरुष विपर्यास अर्थात् अविवेकके कारण जाग्रत्-अवस्थामें रज्जु-सर्पादि अचिन्तनीय अर्थात् जिनका चिन्तन नहीं किया जा सकता ऐसे पदार्थोंको भूत—परमार्थवत् स्पर्श करते हुए-से कल्पना करता है। उसी प्रकार स्वप्नमें विपर्यासके कारण ही वह हाथी आदिको देखता हुआ-सा कल्पना करता है; अर्थात् उन्हें वह उसी अवस्थामें देखता है, न कि जाग्रत्से उत्पन्न होते हुए॥ ४१॥



जगदुत्पत्तिका उपदेश किनके लिये है?

उपलम्भात्समाचारादस्तिवस्तुत्ववादिनाम्।
जातिस्तु देशिता बुद्धैरजातेस्त्रसतां सदा॥ ४२॥

[वस्तुओंकी] उपलब्धि और [वर्णाश्रमादि] आचारके कारण जो पदार्थोंकी सत्ता स्वीकार करते हैं तथा अजातिसे भय मानते हैं, विद्वानोंने सर्वदा उन्हींके लिये जातिका उपदेश दिया है॥ ४२॥

यापि बुद्धैरद्वैतवादिभिर्जातिर्देशितोपदिष्टा, उपलम्भनम् उपलम्भस्तस्मादुपलब्धेरित्यर्थः; समाचाराद्वर्णाश्रमादिधर्मसमाचरणात्, ताभ्यां हेतुभ्यामस्तिवस्तुत्ववादिनाम् अस्ति वस्तु-

तथा बुद्ध यानी अद्वैतवादी विद्वानोंने जो जाति (जगत्की उत्पत्ति) का उपदेश दिया है [उसका यह कारण है—] उपलम्भनका नाम उपलम्भ है उस उपलम्भ अर्थात् उपलब्धिसे और समाचार—वर्णाश्रमादि धर्मोंके सम्यक् आचरणसे—इन दोनों कारणोंसे वस्तुओंका अस्तित्व माननेवाले अर्थात् '[द्वैत पदार्थोंका] वस्तुत्व है' ऐसा कहनेवाले

भाव इत्येवं वदनशीलानां दृढाग्रहवतां श्रद्दधानानां मन्दविवेकिनामर्थोपायत्वेन सा देशिता जातिः। तां गृह्णन्तु तावत्। वेदान्ताभ्यासिनां तु स्वयमेवाजाद्वयात्मविषयो विवेको भविष्यतीति न तु परमार्थबुद्ध्या। ते हि श्रोत्रियाः स्थूलबुद्धित्वादजातेः अजातिवस्तुनः सदा त्रस्यन्त्यात्मनाशं मन्यमाना अविवेकिन इत्यर्थः। उपायः सोऽवतारायेत्युक्तम्॥ ४२॥

दृढ़ आग्रही, श्रद्धालु और मन्द विवेकशील पुरुषोंको [ब्रह्मात्मैक्यबोधकी प्राप्तिरूप] अर्थके उपायरूपसे उस जातिका उपदेश दिया है [उसमें उनका यही तात्पर्य है कि] 'अभी वे भले ही उसे स्वीकार कर लें, परन्तु वेदान्तका अभ्यास करते-करते उन्हें स्वयं ही अजन्मा और अद्वितीय आत्मा-सम्बन्धी विवेक हो जायगा' उन्होंने परमार्थबुद्धिसे उसका उपदेश नहीं दिया; क्योंकि वे केवल श्रुति-परायण अविवेकी लोग स्थूलबुद्धि होनेके कारण अपना नाश मानते हुए अजाति अर्थात् जन्मरहित वस्तुसे सदा भय मानते हैं—यह इसका तात्पर्य है यही बात हमने ''उपायः सोऽवताराय'' इत्यादि श्लोकमें (अद्वैतप्रकरण श्लो० १५ में) कही है॥ ४२॥

सन्मार्गगामी द्वैतवादियोंकी गति

अजातेस्त्रसतां तेषामुपलम्भाद्वियन्ति ये।
जातिदोषा न सेत्स्यन्ति दोषोऽप्यल्पो भविष्यति॥ ४३॥

द्वैतकी उपलब्धिके कारण जो विपरीत मार्गमें प्रवृत्त होते हैं अजातिसे भय माननेवाले उन लोगोंके लिये जातिसम्बन्धी दोष सिद्ध नहीं हो सकते, [क्योंकि द्वैतवादी होनेपर भी वे सन्मार्गमें प्रवृत्त तो हुए ही रहते हैं]। [और यदि होगा भी तो] थोड़ा-सा ही दोष होगा॥ ४३॥

ये चैवमुपलम्भात्समाचाराच्चाजातेरजातिवस्तुनस्त्रसन्तोऽस्तिवस्त्वित्यद्वयादात्मनो वियन्ति विरुद्धं यन्ति द्वैतं प्रतिपद्यन्त इत्यर्थः। तेषामजातेस्त्रसतां श्रद्दधानानां सन्मार्गावलम्बिनां जातिदोषा जात्युपलम्भकृता दोषा न सेत्स्यन्ति सिद्धिं नोपयास्यन्ति, विवेकमार्गप्रवृत्तत्वात्। यद्यपि कश्चिद्दोषः स्यात्सोऽप्यल्प एव भविष्यति। सम्यग्दर्शनाप्रतिपत्तिहेतुक इत्यर्थः॥ ४३॥

जो लोग इस प्रकार [पदार्थोंकी] उपलब्धि और [वर्णाश्रमादिके] आचारोंके कारण अजन्मा वस्तुसे डरनेवाले हैं और 'द्वैत पदार्थ है' ऐसा समझकर अद्वय आत्मासे विरुद्ध चलते हैं, अर्थात् द्वैत स्वीकार करते हैं, उन अजातिसे भय माननेवाले श्रद्धालु और सन्मार्गावलम्बी पुरुषोंको जातिदोष-जातिकी उपलब्धिके कारण होनेवाले दोष सिद्ध नहीं होंगे, क्योंकि वे विवेकमार्गमें प्रवृत्त हैं। और यदि कुछ दोष होगा भी तो वह भी अल्प ही होगा; अर्थात् केवल सम्यग्दर्शनकी अप्राप्तिके कारण होनेवाला दोष ही होगा॥ ४३॥



उपलब्धि और आचरणकी अप्रमाणता

ननूपलम्भसमाचारयोः प्रमाणत्वादस्त्येव द्वैतं वस्त्विति, न; उपलम्भसमाचारयोर्व्यभिचारात्। कथं व्यभिचार इत्युच्यते—

यदि कहो कि उपलब्धि और आचरण तो प्रमाण हैं, इसलिये द्वैतवस्तु है ही तो ऐसी बात नहीं है; क्योंकि उपलब्धि और आचरणका तो व्यभिचार भी होता है। किस प्रकार व्यभिचार होता है? सो बतलाया जाता है—

उपलम्भात्समाचारान्मायाहस्ती यथोच्यते।
उपलम्भात्समाचारादस्ति वस्तु तथोच्यते॥ ४४॥

उपलब्धि और आचरणके कारण जिस प्रकार मायाजनित हाथीको ['हाथी है'—इस प्रकार] कहा जाता है उसी प्रकार उपलब्धि और आचरणके कारण 'वस्तु है' ऐसा कहा जाता है॥ ४४॥

उपलभ्यते हि मायाहस्ती हस्तीव हस्तिनमिवात्र समाचरन्ति, बन्धनारोहणादिहस्तिसम्बन्धिभिर्धर्मैर्हस्तीति चोच्यतेऽसन्नपि यथा तथैवोपलम्भात्समाचाराद्द्वैतं भेदरूपमस्ति वस्त्वित्युच्यते। तस्मान्नोपलम्भसमाचारौ द्वैतवस्तुसद्भावे हेतू भवत इत्यभिप्रायः॥ ४४॥

हाथीके समान ही मायाजनित हाथी भी देखनेमें आता है। हाथीके समान ही यहाँ [मायाहस्तीके साथ] भी बन्धन आरोहण आदि हस्तिसम्बन्धी धर्मोंद्वारा व्यवहार करते हैं। जिस प्रकार असत् होनेपर भी वह 'हाथी है' ऐसा कहा जाता है, उसी प्रकार उपलब्धि और आचरणके कारण भेदरूप द्वैतवस्तु है—ऐसा कहा जाता है। अतः अभिप्राय यह है कि उपलब्धि और आचरण द्वैत वस्तुके सद्भावमें कारण नहीं है॥ ४४॥

परमार्थ वस्तु क्या है?

किं पुनः परमार्थसद्वस्तु यदास्पदा जात्याद्यसद्बुद्धय इत्याह—

अच्छा तो जिसके आश्रयसे जाति आदि असद्बुद्धियाँ होती हैं वह परमार्थ वस्तु क्या है? इसपर कहते हैं—

जात्याभासं चलाभासं वस्त्वाभासं तथैव च।
अजाचलमवस्तुत्वं विज्ञानं शान्तमद्वयम्॥ ४५॥

जो कुछ जातिके समान भासनेवाला, चलके समान भासनेवाला और वस्तुके समान भासनेवाला है वह अज, अचल और अवस्तुरूप शान्त एवं अद्वितीय विज्ञान ही है॥ ४५॥

अजाति सज्जातिवदवभासत इति जात्याभासम्। तद्यथा देवदत्तो जायत इति। चलाभासं चलमिवाभासत इति। यथा स

जो अजाति होकर भी जातिवत् प्रतीत हो उसे जात्याभास कहते हैं; उसका उदाहरण, जैसे—देवदत्त उत्पन्न होता है। जो चलके समान प्रतीत हो उसे चलाभास कहते हैं; जैसे—वही

एव देवदत्तो गच्छतीति। वस्त्वाभासं वस्तु द्रव्यं धर्मि तद्वदवभासत इति वस्त्वाभासम्। यथा स एव देवदत्तो गौरो दीर्घ इति। जायते देवदत्तः स्पन्दते दीर्घो गौर इत्येवमवभासते। परमार्थतस्त्वजमचलमवस्तुत्व-मद्रव्यं च। किं तदेवंप्रकारम्? विज्ञानं विज्ञप्तिः। जात्यादि-रहितत्वाच्छान्तम्। अत एवाद्वयं च तदित्यर्थः॥ ४५॥

देवदत्त जाता है। 'वस्त्वाभासम्'—वस्तु धर्मी द्रव्यको कहते हैं, जो उसके समान प्रतीत हो वह वस्त्वाभास है। जैसे—वही देवदत्त गौर और दीर्घ है। देवदत्त उत्पन्न होता है, चलता है तथा वह गौर और दीर्घ है—इस प्रकार भासता है, किन्तु परमार्थतः तो अज, अचल, अवस्तुत्व और अद्रव्यत्व ही है। ऐसा वह कौन है? [इसपर कहते हैं—] विज्ञान अर्थात् विज्ञप्ति तथा वह जाति आदिसे रहित होनेके कारण शान्त है और इसीसे अद्वय भी है—ऐसा इसका तात्पर्य है॥ ४५॥



एवं न जायते चित्तमेवं धर्मा अजाः स्मृताः।
एवमेव विजानन्तो न पतन्ति विपर्यये॥ ४६॥

इस प्रकार चित्त उत्पन्न नहीं होता; इसीसे आत्मा अजन्मा माने गये हैं। ऐसा जाननेवाले लोग ही भ्रममें नहीं पड़ते॥ ४६॥

एवं यथोक्तेभ्यो हेतुभ्यो न जायते चित्तमेवं धर्मा आत्मानोऽजाः स्मृता ब्रह्मविद्भिः। धर्मा इति बहुवचनं देहभेदानुविधायित्वा-दद्वयस्यैवोपचारतः।

इस प्रकार उपर्युक्त हेतुओंसे ही चित्तका जन्म नहीं होता और इसीसे ब्रह्मवेत्ताओंने धर्म यानी आत्माओंको अजन्मा माना है। भिन्न-भिन्न देहोंका अनुवर्तन करनेवाला होनेसे एक अद्वितीय आत्माके लिये ही उपचारसे 'धर्माः' इस बहुवचनका प्रयोग किया गया है।

एवमेव यथोक्तं विज्ञानं जात्यादिरहितमद्वयमात्मतत्त्वं विजानन्तस्त्यक्तबाह्यैषणाः पुनर्न पतन्त्यविद्याध्वान्तसागरे विपर्यये। "तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः" (ई० उ० ७) इत्यादिमन्त्रवर्णात्॥ ४६॥

इसी प्रकार—उपर्युक्त विज्ञानको अर्थात् जाति आदिरहित अद्वितीय आत्मतत्त्वको जाननेवाले बाह्य एषणाओंसे मुक्त हुए लोग फिर विपर्यय अर्थात् अविद्यारूप अन्धकारके समुद्रमें नहीं गिरते। "उस अवस्थामें एकत्व देखनेवाले पुरुषको क्या मोह और क्या शोक हो सकता है?" इत्यादि मन्त्रवर्णसे यही बात प्रमाणित होती है॥ ४६॥

विज्ञानाभासमें अलातस्फुरणका दृष्टान्त

यथोक्तं परमार्थदर्शनं प्रपञ्चयिष्यन्नाह—

पूर्वोक्त परमार्थज्ञानका ही विस्तारसे निरूपण करेंगे, इसलिये कहते हैं—

ऋजुवक्रादिकाभासमलातस्पन्दितं यथा।
ग्रहणग्राहकाभासं विज्ञानस्पन्दितं तथा॥ ४७॥

जिस प्रकार अलात (उल्का) का घूमना ही सीधे-टेढ़े आदि रूपोंमें भासित होता है, उसी प्रकार विज्ञानका स्फुरण ही ग्रहण और ग्राहक आदि रूपोंमें भास रहा है॥ ४७॥

यथा हि लोक ऋजुवक्रादिप्रकाराभासमलातस्पन्दितमुल्काचलनं तथा ग्रहणग्राहकाभासं विषयिविषयाभासमित्यर्थः। किं तद्विज्ञानस्पन्दितम्। स्पन्दित-

जिस प्रकार लोकमें सीधे-टेढ़े आदि रूपोंमें भासमान होनेवाला अलातका स्पन्द अर्थात् उल्का (जलती हुई बनैती) का घूमना ही है, उसी प्रकार ग्रहण और ग्राहकरूपसे भासनेवाला अर्थात् इन्द्रिय और विषयरूपसे भासनेवाला भी है। वह कौन है? विज्ञानका स्पन्द, जो अविद्याके

मिव स्पन्दितमविद्यया। न ह्यचलस्य विज्ञानस्य स्पन्दनमस्ति। अजाचलमिति ह्युक्तम्॥ ४७॥

कारण ही स्पन्दके समान स्पन्द-सा प्रतीत होता है, वस्तुतः अविचल विज्ञानका स्पन्दन नहीं हो सकता, क्योंकि [उपर्युक्त श्लोक ४५ में ही] 'वह अज और अचल है' ऐसा कहा जा चुका है॥ ४७॥



अस्पन्दमानमलातमनाभासमजं यथा।
अस्पन्दमानं विज्ञानमनाभासमजं तथा॥ ४८॥

जिस प्रकार स्पन्दनरहित अलात आभासशून्य और अज है, उसी प्रकार स्पन्दनरहित विज्ञान भी आभासशून्य और अज है॥ ४८॥

अस्पन्दमानं स्पन्दनवर्जितं तदेवालातमृज्वाद्याकारेणाजायमान-मनाभासमजं यथा; तथाविद्यया स्पन्दमानमविद्योपरमेऽस्पन्दमानं जात्याद्याकारेणानाभासमजमचलं भविष्यतीत्यर्थः॥ ४८॥

जिस प्रकार वही अलात अस्पन्दमान—स्पन्दनसे रहित होनेपर ऋजु आदि आकारोंमें भासित न होनेके कारण अनाभास और अज रहता है उसी प्रकार अविद्यासे स्पन्दित होनेवाला विज्ञान अविद्याकी निवृत्ति होनेपर जाति आदि रूपसे स्पन्दित न होकर अनाभास, अज और अचल हो जायगा—ऐसा इसका तात्पर्य है॥ ४८॥



किं च—

इसके सिवा—

अलाते स्पन्दमाने वै नाभासा अन्यतोभुवः।
न ततोऽन्यत्र निस्पन्दान्नालातं प्रविशन्ति ते॥ ४९॥

अलातके स्पन्दित होनेपर भी वे आभास किसी अन्य कारणसे नहीं होते, तथा उसके स्पन्दरहित होनेपर भी कहीं अन्यत्र नहीं चले जाते और न वे अलातमें ही प्रवेश करते हैं॥ ४९॥

तस्मिन्नेवालाते स्पन्दमान ऋजुवक्राद्याभासा अलातादन्यतः कुतश्चिदागत्यालाते नैव भवन्ति, इति नान्यतोभुवः। न च तस्मान्निस्पन्दादलातादन्यत्र निर्गताः। न च निस्पन्दमलातमेव प्रविशन्ति ते॥ ४९॥

उस अलातके स्पन्दित होनेपर भी वे सीधे-टेढ़े आदि आभास अलातसे भिन्न कहीं अन्यत्रसे आकर अलातमें उपस्थित नहीं हो जाते; अतः वे किसी अन्यसे होनेवाले भी नहीं हैं तथा निस्पन्द हुए उस अलातसे वे कहीं अन्यत्र नहीं चले जाते और न उस निस्पन्द अलातमें ही प्रवेश कर जाते हैं॥ ४९॥



किं च—

इसके अतिरिक्त—

न निर्गता अलातात्ते द्रव्यत्वाभावयोगतः।
विज्ञानेऽपि तथैव स्युराभासस्याविशेषतः॥ ५०॥

उनमें द्रव्यत्वके अभावका योग होनेके कारण वे अलातसे भी नहीं निकलते हैं। इसी प्रकार आभासत्वमें समानता होनेके कारण विज्ञानके विषयमें भी समझना चाहिये॥ ५०॥

न निर्गता अलातात्त आभासा गृहादिवद्द्रव्यत्वाभावयोगतः— द्रव्यस्य भावो द्रव्यत्वम्, तदभावो द्रव्यत्वाभावः, द्रव्यत्वाभावयोगतो द्रव्यत्वाभावयुक्तेर्वस्तुत्वाभावादित्यर्थः; वस्तुनो हि प्रवेशादि सम्भवति नावस्तुनः। विज्ञानेऽपि जात्याद्याभासास्तथैव

द्रव्यत्वाभावयोगके कारण— द्रव्यके भावका नाम द्रव्यत्व है, उसके अभावको द्रव्यत्वाभाव कहते हैं, उस द्रव्यत्वाभावयोग अर्थात् द्रव्यत्वाभावरूप युक्तिके कारण यानी वस्तुत्वका अभाव होनेसे वे आभास घर आदिसे निकलनेके समान अलातसे भी नहीं निकले; क्योंकि प्रवेशादि होने तो वस्तुके ही सम्भव हैं, अवस्तुके नहीं। विज्ञानमें [प्रतीत होनेवाले] जात्यादि आभास भी ऐसे ही समझने चाहिये,

स्युराभासस्याविशेषतस्तुल्यत्वात्॥ ५०॥

क्योंकि आभासकी सामान्यता होनेसे उनकी तुल्यता है॥ ५०॥



कथं तुल्यत्वमित्याह—

उनकी तुल्यता किस प्रकार है? सो बतलाते हैं—

विज्ञाने स्पन्दमाने वै नाभासा अन्यतोभुवः।
न ततोऽन्यत्र निस्पन्दान्न विज्ञानं विशन्ति ते॥ ५१॥
न निर्गतास्ते विज्ञानादद्रव्यत्वाभावयोगतः।
कार्यकारणताभावाद्यतोऽचिन्त्याः सदैव ते॥ ५२॥

विज्ञानके स्पन्दित होनेपर भी उसके आभास किसी अन्य कारणसे नहीं होते तथा उसके स्पन्दरहित होनेपर कहीं अन्यत्र नहीं चले जाते और न विज्ञानमें ही प्रवेश कर जाते हैं॥ ५१॥ द्रव्यत्वके अभावका योग होनेके कारण वे विज्ञानसे भी नहीं निकले, क्योंकि कार्य-कारणताका अभाव होनेके कारण वे सदा ही अचिन्तनीय (अनिर्वचनीय) हैं॥ ५२॥

अलातेन समानं सर्वं विज्ञानस्य। सदाचलत्वं तु विज्ञानस्य विशेषः। जात्याद्याभासा विज्ञानेऽचले किं कृता इत्याह। कार्यकारणताभावाज्जन्यजनकत्वानुपपत्तेरभावरूपत्वादचिन्त्यास्ते यतः सदैव।

विज्ञानके विषयमें भी सब कुछ अलातके ही समान है। नित्य अचल रहना—यही विज्ञानकी विशेषता है। अचल विज्ञानमें जाति आदि आभास किस कारणसे होते हैं? इसपर कहते हैं—क्योंकि कार्यकारणताका अभाव अर्थात् अभावरूप होनेके कारण जन्य-जनकत्वकी अनुपपत्ति होनेसे वे सदा ही अचिन्तनीय हैं।

यथासत्स्वृज्वाद्याभासेषु ऋज्वादिबुद्धिर्दृष्टालातमात्रे तथासत्स्वेव जात्यादिषु विज्ञानमात्रे जात्यादिबुद्धिर्मृषैवेति समुदायार्थः ॥ ५१-५२ ॥

[इन दोनों श्लोकोंका] सम्मिलित अर्थ यह है कि जिस प्रकार ऋजु (सरल) आदि आभासोंके न होनेपर भी अलातमात्रमें ही ऋजु आदि बुद्धि होती देखी जाती है, उसी प्रकार जाति आदिके न होनेपर भी केवल विज्ञानमात्रमें जाति आदि बुद्धि होना मिथ्या ही है ॥ ५१-५२ ॥



आत्मामें कार्य-कारणभाव क्यों असम्भव है?

अजमेकमात्मत्त्वमिति स्थितं तत्र यैरपि कार्यकारणभावः कल्प्यते तेषाम्—

यह निश्चय हुआ कि एक अजन्मा आत्मतत्त्व है। उसमें जो लोग कार्य-कारणभावकी कल्पना करते हैं उनके मतमें भी—

द्रव्यं द्रव्यस्य हेतुः स्यादन्यदन्यस्य चैव हि।
द्रव्यत्वमन्यभावो वा धर्माणां नोपपद्यते ॥ ५३ ॥

द्रव्यका कारण द्रव्य ही हो सकता है और वह भी अन्य द्रव्यका अन्य ही द्रव्य कारण होना चाहिये; किन्तु आत्माओंमें द्रव्यत्व और अन्यत्व दोनों ही सम्भव नहीं हैं ॥ ५३ ॥

द्रव्यं द्रव्यस्यान्यस्यान्यद्धेतुः कारणं स्यान्न तु तस्यैव तत्। नाप्यद्रव्यं कस्यचित्कारणं स्वतन्त्रं दृष्टं लोके। न च द्रव्यत्वं धर्माणामात्मनामुपपद्यतेऽन्यत्वं वा कुतश्चिद्येनान्यस्य कारणत्वं कार्यत्वं

अन्य द्रव्यका कारण अन्य द्रव्य ही हो सकता है, न कि उस द्रव्यका वही। और जो वस्तु द्रव्य नहीं है उसे लोकमें किसीका स्वतन्त्र कारण होता नहीं देखा। तथा आत्माओंका द्रव्यत्व अथवा अन्यत्व किसी भी प्रकार सम्भव नहीं है, जिससे कि वे किसी अन्य द्रव्यके कारणत्व

वा प्रतिपद्येत। अतोऽद्रव्यत्वादनन्यत्वाच्च न कस्यचित्कार्यं कारणं वात्मेत्यर्थः॥ ५३॥

अथवा कार्यत्वको प्राप्त हो सकें। अतः तात्पर्य यह है कि अद्रव्यत्व और अनन्यत्वके कारण आत्मा किसीका भी कार्य अथवा कारण नहीं है॥ ५३॥



एवं न चित्तजा धर्माश्चित्तं वापि न धर्मजम्।
एवं हेतुफलाजातिं प्रविशन्ति मनीषिणः॥ ५४॥

इस प्रकार न तो बाह्य पदार्थ ही चित्तसे हुए हैं और न चित्त ही बाह्य पदार्थोंसे उत्पन्न हुआ है। अतः मनीषी लोग कार्य-कारणकी अनुत्पत्ति ही निश्चित करते हैं॥ ५४॥

एवं यथोक्तेभ्यो हेतुभ्य आत्मविज्ञानस्वरूपमेव चित्तमिति न चित्तजा बाह्यधर्मा नापि बाह्यधर्मजं चित्तम्। विज्ञानस्वरूपाभासमात्रत्वात्सर्वधर्माणाम्। एवं न हेतोः फलं जायते नापि फलाद्धेतुरिति हेतुफलयोरजातिं हेतुफलाजातिं प्रविशन्त्यध्यवस्यन्ति। आत्मनि हेतुफलयोरभावमेव प्रतिपद्यन्ते ब्रह्मविद इत्यर्थः॥ ५४॥

इस प्रकार उपर्युक्त हेतुओंसे चित्त आत्मविज्ञानस्वरूप ही है; न तो बाह्य पदार्थ ही चित्तसे उत्पन्न हुए हैं और न चित्त ही बाह्य पदार्थोंसे उत्पन्न हुआ है; क्योंकि सारे ही धर्मविज्ञानस्वरूपके आभासमात्र हैं। इस प्रकार न तो हेतुसे फलकी उत्पत्ति होती है और न फलसे हेतुकी। अतः मनीषी लोग हेतु और फलकी अनुत्पत्ति ही निश्चित करते हैं। तात्पर्य यह कि ब्रह्मवेत्ता लोग आत्मामें हेतु और फलका अभाव ही देखते हैं॥ ५४॥



हेतु-फलभावके अभिनिवेशका फल

ये पुनर्हेतुफलयोरभिनिविष्टा-

किन्तु जिनका हेतु और फलमें अभिनिवेश है

स्तेषां किं स्यादित्युच्यते—धर्माधर्माख्यस्य हेतोरहं कर्ता मम धर्माधर्मौ तत्फलं कालान्तरे क्वचित्प्राणिनिकाये जातो भोक्ष्य इति—

उनका क्या होगा? इसपर कहा जाता है—धर्माधर्मसंज्ञक हेतुका मैं कर्ता हूँ, धर्म और अधर्म मेरे हैं, कालान्तरमें किसी प्राणीके शरीरमें उत्पन्न होकर उनका फल भोगूँगा—इस प्रकार—

यावद्धेतुफलावेशस्तावद्धेतुफलोद्भवः।
क्षीणे हेतुफलावेशे संसारं न प्रपद्यते॥ ५५॥

जबतक हेतु और फलका आग्रह है तबतक ही हेतु और फलकी उत्पत्ति भी है। हेतु और फलका आवेश क्षीण हो जानेपर फिर हेतु और फलरूप संसारकी उत्पत्ति भी नहीं होती।

यावद्धेतुफलयोरावेशो हेतुफलाग्रह आत्मन्यध्यारोपणं तच्चित्ततेत्यर्थः, तावद्धेतुफलयोरुद्भवो धर्माधर्मयोस्तत्फलस्य चानुच्छेदेन प्रवृत्तिरित्यर्थः। यदा पुनर्मन्त्रौषधिवीर्येणेव ग्रहावेशो यथोक्ताद्वैतदर्शनेनाविद्योद्भूतहेतुफलावेशोऽपनीतो भवति तदा तस्मिन्क्षीणे नास्ति हेतुफलोद्भवः॥ ५५॥

जबतक हेतु और फलका आवेश—हेतुफलाग्रह अर्थात् उन्हें आत्मामें आरोपित करना यानी तच्चित्तता है, तबतक हेतु और फलकी उत्पत्ति भी है अर्थात् तबतक धर्माधर्म और उनके फलकी अविच्छिन्न प्रवृत्ति भी है। किन्तु जिस समय मन्त्र और ओषधिकी सामर्थ्यसे ग्रहके आवेशके समान उपर्युक्त अद्वैतबोधसे अविद्याजनित हेतु और फलका आवेश निवृत्त हो जाता है उस समय उसके क्षीण हो जानेपर हेतु और फलकी उत्पत्ति भी नहीं होती॥ ५५॥



हेतु-फलके अभिनिवेशमें दोष

यदि हेतुफलोद्भवस्तदा को दोष इत्युच्यते—

यदि हेतु और फलकी उत्पत्ति रहे तो इनमें दोष क्या है? सो बतलाते हैं—

यावद्धेतुफलावेशः संसारस्तावदायतः।
क्षीणे हेतुफलावेशे संसारं न प्रपद्यते॥ ५६॥

जबतक हेतु और फलका आग्रह है तबतक संसार बढ़ा हुआ है। हेतु और फलका आवेश नष्ट होनेपर विद्वान् संसारको प्राप्त नहीं होता॥ ५६॥

यावत्सम्यग्दर्शनेन हेतुफलावेशो न निवर्ततेऽक्षीणः संसारस्तावदायतो दीर्घो भवतीत्यर्थः। क्षीणे पुनर्हेतुफलावेशे संसारं न प्रपद्यते कारणाभावात्॥ ५६॥

जबतक सम्यग्ज्ञानसे हेतु और फलका आग्रह निवृत्त नहीं होता तबतक संसार क्षीण न होकर विस्तृत होता जाता है। किन्तु हेतुफलावेशके क्षीण होनेपर, कोई कारण न रहनेसे, विद्वान् संसारको प्राप्त नहीं होता॥ ५६॥



नन्वजादात्मनोऽन्यन्नास्त्येव तत्कथं हेतुफलयोः संसारस्य चोत्पत्तिविनाशावुच्येते त्वया?

शृणु—

शंका—अजन्मा आत्मासे भिन्न तो और कोई है ही नहीं; फिर हेतु और फल तथा संसारके उत्पत्तिविनाशका तुम कैसे वर्णन कर रहे हो?

समाधान—अच्छा, सुनो—

संवृत्या जायते सर्वं शाश्वतं नास्ति तेन वै।
सद्भावेन ह्यजं सर्वमुच्छेदस्तेन नास्ति वै॥ ५७॥

सारे पदार्थ व्यावहारिक दृष्टिसे उत्पन्न होते हैं; इसलिये वे नित्य नहीं हैं। परमार्थदृष्टिसे तो सब कुछ अज ही है; इसलिये किसीका विनाश भी नहीं है॥ ५७॥

संवृत्या संवरणं संवृतिरविद्याविषयो लौकिको व्यवहारस्तया संवृत्या जायते सर्वम्। तेनाविद्याविषये शाश्वतं नित्यं नास्ति वै। अत उत्पत्तिविनाशलक्षणः संसार आयत इत्युच्यते। परमार्थसद्भावेन त्वजं सर्वमात्मैव यस्मात्। अतो जात्यभावादुच्छेदस्तेन नास्ति वै कस्यचिद्धेतुफलादेरित्यर्थः॥ ५७॥

'संवृत्या'—संवरण अर्थात् अविद्याविषयक लौकिक व्यवहारका नाम संवृति है; उस संवृतिसे ही सबकी उत्पत्ति होती है। अतः उस अविद्याके अधिकारमें कोई भी वस्तु शाश्वत—नित्य नहीं है। इसीलिये उत्पत्ति-विनाशशील संसार विस्तृत है—ऐसा कहा जाता है; क्योंकि परमार्थसत्तासे तो सब कुछ अजन्मा आत्मा ही है। अतः जन्मका अभाव होनेके कारण किसी भी हेतु या फल आदिका उच्छेद नहीं होता—ऐसा इसका तात्पर्य है॥ ५७॥



जीवोंका जन्म मायिक है

धर्मा य इति जायन्ते जायन्ते ते न तत्त्वतः।
जन्म मायोपमं तेषां सा च माया न विद्यते॥ ५८॥

धर्म (जीव) जो उत्पन्न होते कहे जाते हैं, वे वस्तुतः उत्पन्न नहीं होते। उनका जन्म मायाके सदृश है और वह माया भी [वस्तुतः] है नहीं॥ ५८॥

येऽप्यात्मानोऽन्ये च धर्मा जायन्त इति कल्प्यन्ते त इत्येवंप्रकारा यथोक्ता संवृतिर्निर्दिश्यत इति संवृत्यैव धर्मा जायन्ते; न ते

जो भी आत्मा तथा दूसरे धर्म 'उत्पन्न होते हैं'—इस प्रकार कल्पना किये जाते हैं वे इस प्रकारके सभी धर्म संवृतिसे ही उत्पन्न होते हैं। यहाँ 'इति' शब्दसे इससे पहले श्लोकमें कही हुई संवृतिका निर्देश किया गया है। वे

तत्त्वतः परमार्थतो जायन्ते। यत्पुनस्तत्संवृत्या जन्म तेषां धर्माणां यथोक्तानां यथा मायया जन्म तथा तन्मायोपमं प्रत्येतव्यम्।

तत्त्वतः—परमार्थतः उत्पन्न नहीं होते। क्योंकि उन पूर्वोक्त धर्मोंका जो संवृतिसे होनेवाला जन्म है वह ऐसा है जैसे मायासे होनेवाला जन्म होता है, इसलिये उसे मायाके सदृश समझना चाहिये।

माया नाम वस्तु तर्हि? नैवम्; सा च माया न विद्यते, मायेत्यविद्यमानस्याख्येत्यभिप्रायः॥ ५८॥

तब तो माया एक सत्य वस्तु सिद्ध होती है? नहीं, ऐसी बात नहीं है। वह माया भी है नहीं। तात्पर्य यह है कि 'माया' यह अविद्यमान वस्तुका ही नाम है॥ ५८॥



कथं मायोपमं तेषां धर्माणां जन्मेत्याह—

उन धर्मोंका जन्म मायाके सदृश किस प्रकार है? सो बतलाते हैं—

यथा मायामयाद्बीजाज्जायते तन्मयोऽङ्कुरः।
नासौ नित्यो न चोच्छेदी तद्वद्धर्मेषु योजना॥ ५९॥

जिस प्रकार मायामय बीजसे मायामय अङ्कुर उत्पन्न होता है और वह न तो नित्य ही होता है और न नाशवान् ही, उसी प्रकार धर्मोंके विषयमें भी युक्ति समझनी चाहिये॥ ५९॥

यथा मायामयादाम्रादिबीजाज्जायते तन्मयो मायामयोऽङ्कुरो नासावङ्कुरो नित्यो न चोच्छेदी विनाशी वाभूतत्वात्तद्वदेव धर्मेषु जन्मनाशादियोजना युक्तिः। न तु परमार्थतो

जिस प्रकार मायामय आम आदिके बीजसे तन्मय अर्थात् मायामय अङ्कुर उत्पन्न होता है और वह अङ्कुर न तो नित्य ही होता है और न नाशवान् ही, उसी प्रकार असत्य होनेके कारण धर्मोंमें भी जन्म-नाशादिकी योजना—युक्ति है।

धर्माणां जन्म नाशो वा युज्यत इत्यर्थः ॥ ५९ ॥

तात्पर्य यह है कि परमार्थतः धर्मोंका जन्म अथवा नाश होना सम्भव नहीं है ॥ ५९ ॥



आत्माकी अनिर्वचनीयता

नाजेषु सर्वधर्मेषु शाश्वताशाश्वताभिधा।
यत्र वर्णा न वर्तन्ते विवेकस्तत्र नोच्यते॥ ६० ॥

इन सम्पूर्ण अजन्मा धर्मोंमें नित्य-अनित्य नामोंकी प्रवृत्ति नहीं है, जहाँ शब्द ही नहीं है उस आत्मतत्त्वमें [नित्य-अनित्य] विवेक भी नहीं कहा जा सकता॥ ६० ॥

परमार्थतस्त्वात्मस्वजेषु नित्यैकरसविज्ञमिमात्रसत्ताकेषु शाश्वतोऽशाश्वत इति वा नाभिधा नाभिधानं प्रवर्तत इत्यर्थः। यत्र येषु वर्ण्यन्ते यैरर्थास्ते वर्णाः शब्दा न प्रवर्तन्तेऽभिधातुं प्रकाशयितुं न प्रवर्तन्त इत्यर्थः। इदमेवमिति विवेको विविक्तता तत्र नित्योऽनित्य इति नोच्यते। ''यतो वाचो निवर्तन्ते'' (तै० उ० २। ४। १) इति श्रुतेः॥ ६० ॥

वास्तवमें तो नित्य एकरस विज्ञानमात्र सत्तास्वरूप अजन्मा आत्माओंमें नित्य-अनित्य—ऐसे अभिधान अर्थात् नामकी भी प्रवृत्ति नहीं है। जहाँ—जिन महात्माओंमें—जिनसे पदार्थोंका वर्णन किया जाता है वे वर्ण यानी शब्द भी नहीं हैं अर्थात् उसका वर्णन करनेके लिये प्रवृत्त नहीं होते हैं, उसमें 'यह ऐसा है अर्थात् नित्य है अथवा अनित्य है' इस प्रकारका विवेक भी नहीं कहा जाता; जैसा कि ''जहाँसे वाणी लौट आती है'' इस श्रुतिसे सिद्ध होता है॥ ६० ॥



यथा स्वप्ने द्वयाभासं चित्तं चलति मायया।
तथा जाग्रद्द्वयाभासं चित्तं चलति मायया॥ ६१ ॥

जिस प्रकार स्वप्नमें चित्त मायासे द्वैताभासरूपसे स्फुरित होता है, उसी प्रकार जाग्रत्कालीन द्वैताभासरूपसे भी चित्त मायासे ही स्फुरित होता है॥ ६१॥

अद्वयं च द्वयाभासं चित्तं स्वप्ने न संशयः।
अद्वयं च द्वयाभासं तथा जाग्रन्न संशयः॥ ६२॥

इसमें सन्देह नहीं, स्वप्नावस्थामें अद्वय चित्त ही द्वैतरूपसे भासनेवाला है; इसी प्रकार जाग्रत्कालमें भी अद्वय मन ही द्वैतरूपसे भासनेवाला है—इसमें कोई सन्देह नहीं॥ ६२॥

यत्पुनर्वाग्गोचरत्वं परमार्थतोऽद्वयस्य विज्ञानमात्रस्य तन्मनसः स्पन्दनमात्रं न परमार्थत इति। उक्तार्थौ श्लोकौ॥ ६१-६२॥

परमार्थतः अद्वय विज्ञानमात्रका जो वाणीका विषय होना है वह मनका स्फुरणमात्र ही है, वह परमार्थतः है नहीं—इस प्रकार इन श्लोकोंकी व्याख्या पहले (अद्वैत० २९-३० में) की जा चुकी है॥ ६१-६२॥



द्वैताभावमें स्वप्नका दृष्टान्त

इतश्च वाग्गोचरस्याभावो द्वैतस्य—

वाणीके विषयभूत द्वैतका इसलिये भी अभाव है—

स्वप्नदृक्प्रचरन्स्वप्ने दिक्षु वै दशसु स्थितान्।
अण्डजान्स्वेदजान्वापि जीवान्पश्यति यान्सदा॥ ६३॥

स्वप्नद्रष्टा स्वप्नमें घूमते-घूमते दसों दिशाओंमें स्थित जिन अण्डज अथवा स्वेदज जीवोंको सर्वदा देखा करता है [वे वस्तुतः उससे पृथक् नहीं होते]॥ ६३॥

स्वप्नान्पश्यतीति स्वप्नदृक्प्रचरन्पर्यटन्स्वप्ने स्वप्नस्थाने दिक्षु वै दशसु स्थितान्वर्तमानाञ्जीवा-

जो स्वप्नोंको देखता है उसे स्वप्नद्रष्टा कहते हैं, वह स्वप्न अर्थात् स्वप्नस्थानोंमें घूमता हुआ दसों दिशाओंमें स्थित जिन

धर्माणां जन

इत्यर्थः ॥

यान्

स्वेदज अथवा अण्डज प्राणियोंको सर्वदा देखता है [वे वस्तुतः उससे भिन्न नहीं होते] ॥ ६३ ॥



र्त—

यदि ऐसा है तो इससे सिद्ध क्या हुआ? सो बतलाते हैं—

स्वप्नदृक्चित्तदृश्यास्ते न विद्यन्ते ततः पृथक्।
तथा तद्दृश्यमेवेदं स्वप्नदृक्चित्तमिष्यते ॥ ६४ ॥

वे सब स्वप्नद्रष्टाके चित्तके दृश्य उससे पृथक् नहीं होते। इसी प्रकार उस स्वप्नद्रष्टाका यह चित्त भी उसीका दृश्य माना जाता है ॥ ६४ ॥

स्वप्नदृशश्चित्तं स्वप्नदृक्चित्तम्। तेन दृश्यास्ते जीवास्ततस्तस्मात्स्वप्नदृक्चित्तात्पृथङ् न विद्यन्ते न सन्तीत्यर्थः। चित्तमेव ह्यनेकजीवादिभेदाकारेण विकल्प्यते। तथा तदपि स्वप्नदृक्चित्तमिदं तद्दृश्यमेव, तेन स्वप्नदृशा दृश्यं तद्दृश्यम्। अतः स्वप्नदृग्व्यतिरेकेण चित्तं नाम नास्तीत्यर्थः ॥ ६४ ॥

स्वप्नद्रष्टाका चित्त 'स्वप्नदृक्चित्त' कहलाता है, उससे देखे जानेवाले वे जीव उस स्वप्नद्रष्टाके चित्तसे पृथक् नहीं हैं—यह इसका तात्पर्य है। अनेक जीवादिभेदरूपसे चित्त ही कल्पना किया जाता है। इसी प्रकार उस स्वप्नद्रष्टाका यह चित्त भी उसका दृश्य ही है। उस स्वप्नद्रष्टासे देखा जाता है, इसलिये उसका दृश्य है। अतः तात्पर्य यह है कि स्वप्नद्रष्टासे भिन्न चित्त भी कुछ है नहीं ॥ ६४ ॥



चरञ्जागरिते जाग्रद्दिक्षु वै दशसु स्थितान्।
अण्डजान्स्वेदजान्वापि जीवान्पश्यति यान्सदा ॥ ६५ ॥

जाग्रच्चित्तेक्षणीयास्ते न विद्यन्ते ततः पृथक्।
तथा तद्दृश्यमेवेदं जाग्रतश्चित्तमिष्यते॥ ६६॥

जाग्रत्-अवस्थामें घूमते-घूमते जाग्रत्-अवस्थाका साक्षी दसों दिशाओंमें स्थित जिन अण्डज अथवा स्वेदज जीवोंको सर्वदा देखता है॥ ६५॥ वे जाग्रच्चित्तके दृश्य उससे पृथक् नहीं हैं। इसी प्रकार वह जाग्रच्चित्त भी उसीका दृश्य माना जाता है॥ ६६॥

जाग्रतो दृश्या जीवास्तच्चित्ताव्यतिरिक्ताश्चित्तेक्षणीयत्वात्स्वप्नदृक्चित्तेक्षणीयजीववत्। तच्च जीवेक्षणात्मकं चित्तं द्रष्टुरव्यतिरिक्तं द्रष्टृदृश्यत्वात्स्वप्नचित्तवत्। उक्तार्थमन्यत्॥ ६५-६६॥

जाग्रत् पुरुषको दिखलायी देनेवाले जीव उसके चित्तसे अपृथक् हैं, क्योंकि स्वप्नद्रष्टाके चित्तसे देखे जानेवाले जीवोंके समान वे उसके चित्तसे ही देखे जाते हैं। तथा जीवोंको देखनेवाला वह चित्त भी द्रष्टासे अभिन्न है, क्योंकि स्वप्नचित्तके समान वह भी जाग्रद्द्रष्टाका दृश्य है। शेष अर्थ पहले कहा जा चुका है॥ ६५-६६॥



उभे ह्यन्योन्यदृश्ये ते किं तदस्तीति नोच्यते।
लक्षणाशून्यमुभयं तन्मतेनैव गृह्यते॥ ६७॥

वे [जीव और चित्त] दोनों एक-दूसरेके दृश्य हैं; वे हैं क्या वस्तु—सो कहा नहीं जा सकता। वे दोनों ही प्रमाणशून्य हैं और केवल तच्चित्तताके कारण ही ग्रहण किये जाते हैं॥ ६७॥

जीवचित्ते उभे चित्तचैत्ये ते अन्योन्यदृश्ये इतरेतरगम्ये। जीवादिविषयापेक्षं हि चित्तं नाम भवति। चित्तापेक्षं हि जीवादि

जीव और चित्त अर्थात् चित्त और चित्तके विषय—ये दोनों ही अन्योन्यदृश्य अर्थात् एक-दूसरेके विषय हैं। जीवादि विषयकी अपेक्षासे चित्त है और चित्तकी अपेक्षासे जीवादि

दृश्यम्। अतस्ते अन्योन्यदृश्ये। तस्मान्न किंचिदस्तीति चोच्यते चित्तं वा चित्तेक्षणीयं वा किं तदस्तीति विवेकिनोच्यते। न हि स्वप्ने हस्ती हस्तिचित्तं वा विद्यते तथेहापि विवेकिनामित्यभिप्रायः।

कथम्? लक्षणाशून्यं लक्ष्यतेऽनयेति लक्षणा प्रमाणं प्रमाणशून्यमुभयं चित्तं चैत्यं द्वयं यतस्तन्मतेनैव तच्चित्ततयैव तद्गृह्यते। न हि घटमतिं प्रत्याख्याय घटो गृह्यते नापि घटं प्रत्याख्याय घटमतिः। न हि तत्र प्रमाणप्रमेयभेदः शक्यते कल्पयितुमित्यभिप्रायः॥ ६७॥

दृश्य। अतः वे एक-दूसरेके दृश्य हैं। इसलिये ऐसा प्रश्न होनेपर कि वे हैं क्या? विवेकी लोग यही कहते हैं कि चित्त अथवा चित्तका दृश्य—इनमेंसे कोई भी वस्तु है नहीं। इससे उन विवेकी पुरुषोंका यही अभिप्राय है कि जिस प्रकार स्वप्नमें हाथी और हाथीको ग्रहण करनेवाला चित्त नहीं होता उसी प्रकार यहाँ (जाग्रत्-अवस्थामें) भी उनका अभाव है।

किस प्रकार नहीं है? क्योंकि वे चित्त और चैत्य दोनों ही लक्षणाशून्य—प्रमाणरहित हैं। जिससे कोई पदार्थ लक्षित होता है उसे 'लक्षणा' यानी 'प्रमाण' कहते हैं। और वे तन्मत—तच्चित्ततासे ही ग्रहण किये जाते हैं, क्योंकि न तो घटबुद्धिको त्यागकर घटका ही ग्रहण किया जाता है और न घटको त्यागकर घटबुद्धिका ही। तात्पर्य यह कि उनमें प्रमाण और प्रमेयके भेदकी कल्पना नहीं की जा सकती॥ ६७॥



यथा स्वप्नमयो जीवो जायते म्रियतेऽपि च।
तथा जीवा अमी सर्वे भवन्ति न भवन्ति च॥ ६८॥

जिस प्रकार स्वप्नका जीव उत्पन्न होता है और मरता भी है, उसी प्रकार ये सब जीव भी उत्पन्न होते हैं और मरते भी हैं॥ ६८॥

यथा मायामयो जीवो जायते म्रियतेऽपि च।
तथा जीवा अमी सर्वे भवन्ति न भवन्ति च॥ ६९॥

जिस प्रकार मायामय जीव उत्पन्न होता है और मरता भी है उसी प्रकार ये सब जीव उत्पन्न होते हैं और मरते भी हैं॥ ६९॥

यथा निर्मितको जीवो जायते म्रियतेऽपि वा।
तथा जीवा अमी सर्वे भवन्ति न भवन्ति च॥ ७०॥

जिस प्रकार मन्त्रादिसे रचा हुआ जीव उत्पन्न होता है और मरता भी है, उसी प्रकार ये सब जीव उत्पन्न होते हैं और मरते भी हैं॥ ७०॥

मायामयो मायाविना यः कृतो निर्मितको मन्त्रौषध्यादिभिर्निष्पादितः। स्वप्नमायानिर्मितका अण्डजादयो जीवा यथा जायन्ते म्रियन्ते च तथा मनुष्यादिलक्षणा अविद्यमाना एव चित्तविकल्पनामात्रा इत्यर्थः॥ ६८—७०॥

मायामय—जिसे मायावीने रचा हो, निर्मितक-मन्त्र और ओषधि आदिसे सम्पादन किया हुआ। स्वप्न, माया और मन्त्रादिसे निष्पन्न हुए अण्डज आदि जीव जिस प्रकार उत्पन्न होते और मरते भी हैं उसी प्रकार मनुष्यादिरूप जीव वर्तमान होते हुए भी चित्तके विकल्पमात्र ही हैं—यह इसका अभिप्राय है॥ ६८—७०॥



अजाति ही उत्तम सत्य है

न कश्चिज्जायते जीवः संभवोऽस्य न विद्यते।
एतत्तदुत्तमं सत्यं यत्र किंचिन्न जायते॥ ७१॥

[वस्तुतः] कोई जीव उत्पन्न नहीं होता, उसके जन्मकी सम्भावना ही नहीं है। उत्तम सत्य तो यही है कि जिसमें किसी वस्तुकी उत्पत्ति ही नहीं होती॥ ७१॥

व्यवहारसत्यविषये जीवानां जन्ममरणादिः स्वप्रादिजीववदित्युक्तम्। उत्तमं तु परमार्थसत्यं न कश्चिज्जायते जीव इति। उक्तार्थमन्यत्॥ ७१॥

व्यावहारिक सत्तामें भी जीवोंके जो जन्म-मरणादि हैं वे स्वप्नादिके जीवोंके ही समान हैं—ऐसा पहले कहा जा चुका है; किन्तु उत्तम सत्य तो यही है कि कोई भी जीव उत्पन्न नहीं होता। शेष अंशकी व्याख्या पहले की जा चुकी है॥ ७१॥



चित्तकी असंगता

चित्तस्पन्दितमेवेदं ग्राह्यग्राहकवद्द्वयम्।
चित्तं निर्विषयं नित्यमसङ्गं तेन कीर्तितम्॥ ७२॥

विषय और इन्द्रियोंके सहित यह सम्पूर्ण द्वैत चित्तका ही स्फुरण है; किन्तु चित्त निर्विषय है; इसीसे उसे नित्य असंग कहा गया है॥ ७२॥

सर्वं ग्राह्यग्राहकवच्चित्तस्पन्दितमेव द्वयं चित्तं परमार्थत आत्मैवेति निर्विषयं तेन निर्विषयत्वेन नित्यमसङ्गं कीर्तितम्। ''असङ्गो ह्ययं पुरुषः'' (बृ० उ० ४। ३। १५, १६) इति श्रुतेः। सविषयस्य हि विषये सङ्गः। निर्विषयत्वाच्चित्तमसङ्गमित्यर्थः॥ ७२॥

विषय और इन्द्रियोंसे युक्त सम्पूर्ण द्वैत चित्तका ही स्फुरण है। किन्तु चित्त परमार्थतः आत्मा ही है, इसलिये वह निर्विषय है। उस निर्विषयताके कारण उसे सर्वदा असंग कहा गया है; जैसा कि ''यह पुरुष असंग ही है'' इस श्रुतिसे प्रमाणित होता है। जो सविषय होता है उसीका अपने विषयसे संग हो सकता है। अतः तात्पर्य यह है कि निर्विषय होनेके कारण चित्त असंग है॥ ७२॥



ननु निर्विषयत्वेन चेदसङ्गत्वं चित्तस्य न निःसङ्गता भवति

शंका—यदि निर्विषयताके कारण ही असंगता होती है तो चित्तकी असंगता

यस्माच्छास्ता शास्त्रं शिष्यश्चेत्येवमादेर्विषयस्य विद्यमानत्वात्।

नैष दोषः; कस्मात्—

तो हो नहीं सकती, क्योंकि शास्ता (गुरु), शास्त्र और शिष्य इत्यादि उसके विषय विद्यमान हैं।

समाधान—यह दोष नहीं हो सकता, क्योंकि—

व्यावहारिक वस्तु परमार्थतः नहीं होती

योऽस्ति कल्पितसंवृत्या परमार्थेन नास्त्यसौ।
परतन्त्राभिसंवृत्या स्यान्नास्ति परमार्थतः॥ ७३॥

जो पदार्थ कल्पित व्यवहारके कारण होता है वह परमार्थतः नहीं होता; और यदि अन्य मतावलम्बियोंके शास्त्रोंकी परिभाषाके अनुसार हो भी तो भी वह परमार्थतः नहीं हो सकता॥ ७३॥

यः पदार्थः शास्त्रादिर्विद्यते स कल्पितसंवृत्या; कल्पिता च सा परमार्थप्रतिपत्त्युपायत्वेन संवृतिश्च सा, तया योऽस्ति परमार्थेन नास्त्यसौ न विद्यते। ज्ञाते द्वैतं न विद्यत इत्युक्तम्।

यश्च परतन्त्राभिसंवृत्या परशास्त्रव्यवहारेण स्यात्पदार्थः स परमार्थतो निरूप्यमाणो नास्त्येव। तेन युक्तमुक्तमसङ्गं तेन कीर्तितमिति॥ ७३॥

जो भी शास्त्रादि पदार्थ हैं वे कल्पित व्यवहारसे ही हैं; अर्थात् जिस व्यवहारकी परमार्थतत्त्वकी उपलब्धिके उपायरूपसे कल्पना की गयी है उसके कारण जिस पदार्थकी सत्ता है वह परमार्थसे नहीं है। ''ज्ञान हो जानेपर द्वैत नहीं रहता'' (आगम० श्लो० १८) ऐसा हम पहले कह ही चुके हैं।

इसके सिवा जो पदार्थ परतन्त्रादिसंवृतिसे—अन्य मतावलम्बियोंके शास्त्रव्यवहारसे सिद्ध है वह परमार्थतः निरूपण किये जानेपर नहीं है। अतः 'इसीसे उसे असङ्ग कहा गया है'—यह कथन ठीक ही है॥ ७३॥



आत्मा अज है—यह कल्पना भी व्यावहारिक है

ननु शास्त्रादीनां संवृतित्वेऽज इतीयमपि कल्पना संवृतिः स्यात्?

शंका—शास्त्रादिको व्यावहारिक माननेपर तो 'अज है' ऐसी कल्पना भी व्यावहारिक ही सिद्ध होगी?

सत्यमेवम्।

समाधान—हाँ, बात तो ऐसी ही है।

अजः कल्पितसंवृत्या परमार्थेन नाप्यजः।
परतन्त्राभिनिष्पत्त्या संवृत्या जायते तु सः॥ ७४॥

आत्मा 'अज' भी कल्पित व्यवहारके कारण ही कहा जाता है, परमार्थतः तो 'अज' भी नहीं है। अन्य मतावलम्बियोंके शास्त्रोंसे सिद्ध जो संवृति (भ्रमजनित व्यवहार) है उसके अनुसार उसका जन्म होता है। [अतः उसका निषेध करनेके लिये ही उसे 'अज' कहा गया है]॥ ७४॥

शास्त्रादिकल्पितसंवृत्यैवाज इत्युच्यते। **परमार्थेन नाप्यजः।** यस्मात्**परतन्त्राभिनिष्पत्त्या** परशास्त्रसिद्धिमपेक्ष्य योऽज इत्युक्तः **स संवृत्या जायते।** अतोऽज इतीयमपि कल्पना परमार्थविषये नैव क्रमत इत्यर्थः॥ ७४॥

शास्त्रादिकल्पित व्यवहारके कारण ही उसे 'अज' ऐसा कहा जाता है। परमार्थतः तो वह अज भी नहीं है। क्योंकि यहाँ जिसे अन्य शास्त्रोंकी सिद्धिकी अपेक्षासे 'अज' ऐसा कहा है, वह संवृतिसे ही जन्म भी लेता है। अतः 'वह अज है' ऐसी कल्पनाका भी परमार्थराज्यमें प्रवेश नहीं हो सकता॥ ७४॥



द्वैताभावसे जन्माभाव

यस्मादसद्विषयस्तस्मात्—

क्योंकि विषय असत् है, इसलिये—

अभूताभिनिवेशोऽस्ति द्वयं तत्र न विद्यते।
द्वयाभावं स बुद्ध्वैव निर्निमित्तो न जायते॥ ७५॥

लोगोंका असत्य [द्वैत] के विषयमें केवल आग्रह है। वहाँ [परमार्थतत्त्वमें] द्वैत है ही नहीं। जीव द्वैताभावका बोध प्राप्त करके ही, फिर कोई कारण न रहनेसे जन्म नहीं लेता॥ ७५ ॥

मिथ्याभिनिवेशनिवृत्त्या जन्माभावः

असत्यभूते द्वैतेऽभिनिवेशोऽस्ति केवलम्। अभिनिवेश आग्रहमात्रम्। द्वयं तत्र न विद्यते। मिथ्याभिनिवेशमात्रं च जन्मनः कारणं यस्मात्तस्माद्द्वयाभावं बुद्ध्वा निर्निमित्तो निवृत्तमिथ्याद्वयाभिनिवेशो यः स न जायते॥ ७५ ॥

असत्यभूत द्वैतमें लोगोंका केवल अभिनिवेश है। आग्रहमात्रका नाम अभिनिवेश है। वहाँ [परमार्थवस्तुमें] द्वैत है ही नहीं। क्योंकि मिथ्या अभिनिवेशमात्र ही जीवके जन्मका कारण है। अतः द्वैताभावको जानकर जो निर्निमित्त हो गया है, अर्थात् जिसका मिथ्या द्वैतविषयक आग्रह निवृत्त हो गया है उस [अधिकारी जीव] का फिर जन्म नहीं होता॥ ७५ ॥



यदा न लभते हेतूनुत्तमाधममध्यमान्।
तदा न जायते चित्तं हेत्वभावे फलं कुतः॥ ७६ ॥

जिस समय चित्त उत्तम, मध्यम और अधम हेतुओंको प्राप्त नहीं करता उस समय उसका जन्म भी नहीं होता; क्योंकि हेतुका अभाव होनेपर फिर फल कहाँ हो सकता है?॥ ७६ ॥

हेतुत्रयाभावाज्जन्माभावः

जात्याश्रमविहिता आशीर्वर्जितैरनुष्ठीयमाना धर्मा देवत्वादिप्राप्तिहेतव उत्तमाः केवलाश्च धर्माः। अधर्मव्यामिश्रा मनुष्यत्वादि-

निष्काम मनुष्योंद्वारा अनुष्ठान किये जाते हुए देवत्वादिकी प्राप्तिके हेतुभूत वर्णाश्रमविहित धर्म, जो केवल धर्म ही हैं, उत्तम हेतु हैं और मनुष्यत्वादिकी प्राप्तिके हेतुभूत जो अधर्ममिश्रित धर्म हैं

प्राप्त्यर्था मध्यमाः। तिर्यगादिप्राप्तिनिमित्ता अधर्मलक्षणाः प्रवृत्तिविशेषाश्चाधमाः। तानुत्तममध्यमाधमानविद्यापरिकल्पितान्यदैकमेवाद्वितीयमात्मतत्त्वं सर्वकल्पनावर्जितं जानन्न लभते न पश्यति यथा बालैर्दृश्यमानं गगने मलं विवेकी न पश्यति तद्वत्तदा न जायते नोत्पद्यते चित्तं देवाद्याकारैरुत्तमाधममध्यमफलरूपेण। न ह्यसति हेतौ फलमुत्पद्यते बीजाद्यभाव इव सस्यादि॥ ७६॥

वे मध्यम हेतु हैं तथा तिर्यगादि योनियोंकी प्राप्तिकी हेतुभूत अधर्ममयी विशेष प्रवृत्तियाँ अधम हेतु हैं। जिस समय सम्पूर्ण कल्पनासे रहित एकमात्र अद्वितीय आत्मतत्त्वका ज्ञान होनेपर उन उत्तम, मध्यम और अधम हेतुओंको मनुष्य इस प्रकार उपलब्ध नहीं करता, जैसे कि विवेकी पुरुष आकाशमें बालकोंको दिखायी देनेवाली मलिनताको नहीं देखता, उस समय चित्त उत्तम, मध्यम और अधम फलरूपसे देवादि शरीरोंमें उत्पन्न नहीं होता। बीजादिके अभावमें जैसे अन्नादि उत्पन्न नहीं होते उसी प्रकार हेतुके न होनेपर फलकी भी उत्पत्ति नहीं होती॥ ७६॥



हेत्वभावे चित्तं नोत्पद्यत इति ह्युक्तम्। सा पुनरनुत्पत्तिश्चित्तस्य कीदृशीत्युच्यते—

हेतुका अभाव हो जानेपर चित्त उत्पन्न नहीं होता— ऐसा पहले कहा गया। किन्तु वह चित्तकी अनुत्पत्ति कैसी होती है? इसपर कहा जाता है—

अनिमित्तस्य चित्तस्य यानुत्पत्तिः समाद्वया।
अजातस्यैव सर्वस्य चित्तदृश्यं हि तद्यतः॥ ७७॥

[इस प्रकार] निमित्तशून्य चित्तकी जो अनुत्पत्ति है वह सर्वथा निर्विशेष और अद्वितीय है। [क्योंकि पहले भी] वह सर्वदा अजात [अर्थात् अद्वितीय] चित्तकी ही होती है, क्योंकि यह जो कुछ [प्रतीयमान द्वैतवर्ग] है, सब चित्तका ही दृश्य है॥ ७७॥

परमार्थदर्शनेन निरस्तधर्माधर्माख्योत्पत्तिनिमित्तस्यानिमित्तस्य चित्तस्येति या मोक्षाख्यानुत्पत्तिः सा सर्वदा सर्वावस्थासु समा निर्विशेषाद्वया च। पूर्वमप्यजातस्यैवानुत्पन्नस्य चित्तस्य सर्वस्याद्वयस्येत्यर्थः। यस्मात्प्रागपि विज्ञानाच्चित्तदृश्यं तदद्वयं जन्म च तस्मादजातस्य सर्वस्य सर्वदा चित्तस्य समाद्वयैवानुत्पत्तिर्न पुनः कदाचिद्भवति कदाचिद्वा न भवति। सर्वदैकरूपैवेत्यर्थः॥ ७७॥

परमार्थज्ञानके द्वारा जिसका धर्माधर्मरूप उत्पत्तिका कारण निवृत्त हो गया है उस निमित्तशून्य चित्तकी जो मोक्षसंज्ञक अनुत्पत्ति है वह सर्वदा सब अवस्थाओंमें समान अर्थात् निर्विशेष और अद्वितीय है। वह पहलेसे ही अजात-अनुत्पन्न और सर्व अर्थात् अद्वय चित्तकी ही होती है। क्योंकि बोध होनेके पूर्व भी वह द्वैत और जन्म चित्तका ही दृश्य था, अतः सम्पूर्ण अजात चित्तकी अनुत्पत्ति सर्वदा समान और अद्वय ही होती है। ऐसी नहीं है कि कभी होती है और कभी नहीं होती। तात्पर्य यह है कि वह सर्वदा एकरूपा ही है॥ ७७॥



विद्वान्‌की अभयपदप्राप्ति

यथोक्तेन न्यायेन जन्मनिमित्तस्य द्वयस्याभावात्—

उपर्युक्त न्यायसे जन्मके हेतुभूत द्वैतका अभाव होनेके कारण—

बुद्ध्वानिमित्ततां सत्यां हेतुं पृथगनाप्नुवन्।
वीतशोकं तथाकाममभयं पदमश्नुते॥ ७८॥

अनिमित्तताको ही सत्य जानकर और [देवादि योनिकी प्राप्तिके] किसी अन्य हेतुको न पाकर विद्वान् शोक और कामसे रहित अभयपद प्राप्त कर लेता है॥ ७८॥

अनिमित्ततां च सत्यां परमार्थरूपां बुद्ध्वा हेतुं धर्मादि-

अनिमित्तताको ही सत्य यानी परमार्थरूप जानकर तथा देवादि योनियोंकी

कारणं देवादियोनिप्राप्तये पृथगनाप्नुवन्ननुपाददानस्त्यक्त-बाह्यैषणः सन्कामशोकादिवर्जित-मविद्यादिरहितमभयं पदमश्नुते पुनर्न जायत इत्यर्थः ॥ ७८ ॥

प्राप्तिके लिये किसी अन्य धर्मादि कारणको न पाकर [विद्वान्] बाह्य एषणाओंसे मुक्त हो कामना एवं शोकादिसे रहित अविद्याशून्य अभयपदको प्राप्त कर लेता है; अर्थात् फिर जन्म नहीं लेता ॥ ७८ ॥



अभूताभिनिवेशाद्धि सदृशे तत्प्रवर्तते।
वस्त्वभावं स बुद्ध्वैव निःसङ्गं विनिवर्तते॥ ७९ ॥

चित्त असत्य [द्वैत] के अभिनिवेशसे ही तदनुरूप विषयोंमें प्रवृत्त होता है। तथा द्वैत वस्तुके अभावका बोध होनेपर ही वह उससे निःसंग होकर लौट आता है॥ ७९ ॥

यस्मादभूताभिनिवेशादसति द्वये द्वयास्तित्वनिश्चयोऽभूताभि-निवेशस्तस्मादविद्याव्यामोह-रूपाद्धि सदृशे तदनुरूपे तच्चित्तं प्रवर्तते। तस्य द्वयस्य वस्तुनोऽभावं यदा बुद्धवांस्तदा तस्मा-न्निःसङ्गं निरपेक्षं सद्विनिवर्ततेऽभूताभि-निवेशविषयात्॥ ७९ ॥

क्योंकि अभूताभिनिवेशसे जो द्वैत वस्तुतः असत् है उसके अस्तित्वका निश्चय करना 'अभूताभिनिवेश' है—उस अविद्याजनित मोहरूप असत्याभिनिवेशके कारण ही चित्त तदनुरूप विषयोंमें प्रवृत्त होता है। जिस समय वह उस द्वैत वस्तुका अभाव जान लेता है उस समय उस मिथ्या अभिनिवेशजनित विषयसे निःसंग-निरपेक्ष होकर लौट आता है॥ ७९ ॥



मनोवृत्तियोंकी सन्धिमें ब्रह्मसाक्षात्कार

निवृत्तस्याप्रवृत्तस्य निश्चला हि तदा स्थितिः।
विषयः स हि बुद्धानां तत्साम्यमजमद्वयम्॥ ८० ॥

इस प्रकार [द्वैतसे] निवृत्त और [विषयान्तरमें] प्रवृत्त न हुए चित्तकी उस समय निश्चल स्थिति रहती है। वह परमार्थदर्शी पुरुषोंका ही विषय है और वही परम साम्य, अज और अद्वय है॥ ८०॥

निवृत्तस्य द्वैतविषयाद्विषयान्तरे चाप्रवृत्तस्याभावदर्शनेन चित्तस्य निश्चला चलनवर्जिता ब्रह्मस्वरूपैव तदा स्थितिः। यैषा ब्रह्मस्वरूपा स्थितिश्चित्तस्याद्वयविज्ञानैकरसघनलक्षणा, स हि यस्माद्विषयो गोचरः परमार्थदर्शिनां बुद्धानां तस्मात्तत्साम्यं परं निर्विशेषमजमद्वयं च॥ ८०॥

उस समय द्वैतविषयसे निवृत्त और विषयान्तरमें अप्रवृत्त चित्तकी अभावदर्शनके कारण निश्चल—चलनवर्जिता अर्थात् ब्रह्मस्वरूपा स्थिति रहती है। चित्तकी जो यह अद्वयविज्ञानैकरसघनस्वरूपा ब्रह्ममयी स्थिति है वह, क्योंकि परमार्थदर्शी ज्ञानियोंका विषय-गोचर है इसलिये, परमसाम्य—निर्विशेष अज और अद्वय है॥ ८०॥



पुनरपि कीदृशश्चासौ बुद्धानां विषय इत्याह—

वह ज्ञानियोंका विषय किस प्रकारका है? सो फिर भी बतलाते हैं—

अजमनिद्रमस्वप्नं प्रभातं भवति स्वयम्।
सकृद्विभातो ह्येवैष धर्मो धातुस्वभावतः॥ ८१॥

वह अज, अनिद्र, अस्वप्न और स्वयंप्रकाश है। यह [आत्मा नामक] धर्म अपने वस्तुस्वभावसे ही नित्यप्रकाशमान है॥ ८१॥

स्वयमेव तत्प्रभातं भवति, नादित्याद्यपेक्षम्; स्वयंज्योतिःस्वभावमित्यर्थः। सकृद्विभातः सदैव विभात इत्येतदेष एवं लक्षण

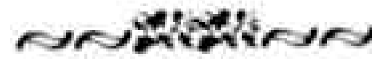
वह स्वयं ही प्रकाशित होता है—आदित्य आदिकी अपेक्षासे नहीं, अर्थात् वह स्वयं प्रकाशस्वभाव है। यह ऐसे लक्षणोंवाला

भावः स्थिरः सदाविशेषत्वात्। उभयं चलस्थिरविषयत्वात्सदसद्भावोऽभावोऽत्यन्ताभावः।

प्रकारचतुष्टयस्यापि तैरेतैश्चलस्थिरोभयाभावैः सदसदादिवादी सर्वोऽपि भगवन्तमावृणोत्येव बालिशोऽविवेकी। यद्यपि पण्डितो बालिश एव परमार्थतत्त्वानवबोधात्किमु स्वभावमूढो जन इत्यभिप्रायः॥ ८३॥

सदा अविशेषरूप होनेसे नास्तिभाव 'स्थिर' है। चल और स्थिरविषयक होनेसे सदसद्भाव उभयरूप है तथा अभाव अत्यन्ताभावरूप है।

इन चल, स्थिर, चलस्थिर और अभावरूप चार प्रकारके भावोंसे सभी मूर्ख अर्थात् विवेकहीन सदसदादिवादीगण भगवान्‌को आच्छादित ही करते हैं। वे यद्यपि पण्डित हैं, तो भी परमार्थतत्त्वका ज्ञान न होनेके कारण मूर्ख ही हैं। अतः तात्पर्य यह है कि फिर स्वभावसे ही मूर्ख लोगोंकी तो बात ही क्या है?॥ ८३॥



कीदृक्पुनः परमार्थतत्त्वं यदवबोधादबालिशः पण्डितो भवतीत्याह—

तो फिर वह परमार्थतत्त्व कैसा है जिसका ज्ञान होनेपर मनुष्य अबालिश अर्थात् पण्डित हो जाता है? इसपर कहते हैं—

कोट्यश्चतस्र एतास्तु ग्रहैर्यासां सदावृतः।
भगवानाभिरस्पृष्टो येन दृष्टः स सर्वदृक्॥ ८४॥

जिनके अभिनिवेशसे आत्मा सदा ही आवृत रहता है वे ये चार ही कोटियाँ हैं। इनसे असंस्पृष्ट (अछूते) भगवान्‌को जिसने देखा है वही सर्वज्ञ है॥ ८४॥

चतुष्कोटिवर्जितात्मज्ञानस्य सार्वज्ञ्यकारणत्वम्

कोट्यः प्रावादुकशास्त्रनिर्णयान्ता एता उक्ता अस्ति नास्तीत्याद्या-

उन प्रवाद करनेवाले वादियोंके शास्त्रोंद्वारा निर्णय की हुई ये अस्ति-नास्ति आदि

श्चतस्त्रो यासां कोटीनां ग्रहैर्ग्रहणैरुपलब्धिनिश्चयैः सदा सर्वदावृत आच्छादितस्तेषामेव प्रावादुकानां यः स भगवानाभिरस्तिनास्तीत्यादिकोटिभिश्चतसृभिरप्यस्पृष्टोऽस्त्यादिविकल्पनावर्जित इत्येतद्येन मुनिना दृष्टो ज्ञातो वेदान्तेष्वौपनिषदः पुरुषः स सर्वदृक्सर्वज्ञः परमार्थपण्डित इत्यर्थः॥ ८४॥

चार ही कोटियाँ हैं। जिन कोटियोंके ग्रह—ग्रहणसे ही, अर्थात् उन प्रावादुकोंके इस उपलब्धिजनित निश्चयसे ही जो भगवान् सदा आवृत है उसे जिस मुनिने इन अस्ति-नास्ति आदि चारों ही कोटियोंसे असंस्पृष्ट अर्थात् अस्ति-नास्ति आदि विकल्पसे सर्वदा रहित देखा है, यानी उसे वेदान्तोंमें [प्रतिपादित] औपनिषद पुरुषरूपसे जाना है वही सर्वदृक्सर्वज्ञ अर्थात् परमार्थको जाननेवाला है॥ ८४॥



ज्ञानीका नैष्कर्म्य

प्राप्य सर्वज्ञतां कृत्स्नां ब्राह्मण्यं पदमद्वयम्।
अनापन्नादिमध्यान्तं किमतः परमीहते॥ ८५॥

इस पूर्ण सर्वज्ञता और आदि, मध्य एवं अन्तसे रहित अद्वितीय ब्राह्मण्य पदको पाकर भी क्या [वह विवेकी पुरुष] फिर कोई चेष्टा करता है?॥ ८५॥

प्राप्यैतां यथोक्तां कृत्स्नां समस्तां सर्वज्ञतां ब्राह्मण्यं पदं ''स ब्राह्मणः'' (बृ० उ० ३। ८। १०) ''एष नित्यो महिमा ब्राह्मणस्य'' (बृ०

इस उपर्युक्त सम्पूर्ण सर्वज्ञता और ''[जो इस अक्षरको जानकर इस लोकसे जाता है] वह ब्राह्मण है'' ''यह ब्राह्मणकी शाश्वती महिमा है''

उ० ४। ४। २३) इति श्रुतेः; आदिमध्यान्ता उत्पत्तिस्थिति-लया अनापन्ना अप्राप्ता यस्याद्वयस्य पदस्य न विद्यन्ते तदनापन्नादि-मध्यान्तं ब्राह्मण्यं पदम्, तदेव प्राप्य लब्ध्वा किमतः परमस्मादात्मलाभादूर्ध्वमीहते चेष्टते निष्प्रयोजनमित्यर्थः। "नैव तस्य कृतेनार्थः" (गीता ३। १८) इत्यादिस्मृतेः॥ ८५॥

इत्यादि श्रुतियोंके अनुसार ब्राह्मण्यपदको प्राप्तकर—जिस अद्वय पदके आदि, मध्य और अन्त, अर्थात् उत्पत्ति, स्थिति और लय अनापन्न—अप्राप्त हैं अर्थात् नहीं हैं, वह अनापन्नादिमध्यान्त ब्राह्मण्यपद है, उसीको पाकर इससे पीछे—इस आत्मलाभके अनन्तर कोई प्रयोजन न रहनेपर भी क्या [वह विद्वान्] कोई चेष्टा करता है? [अर्थात् नहीं करता] जैसा कि "उसका किसी कार्यसे प्रयोजन नहीं रहता" इस स्मृतिसे प्रमाणित होता है॥ ८५॥



विप्राणां विनयो ह्येष शमः प्राकृत उच्यते।
दमः प्रकृतिदान्तत्वादेवं विद्वाञ्शमं व्रजेत्॥ ८६॥

[आत्मस्वरूपमें स्थित रहना] यह उन ब्राह्मणोंका विनय है, यही उनका स्वाभाविक शम कहा जाता है तथा स्वभावसे ही दान्त (जितेन्द्रिय) होनेके कारण यही उनका दम भी है। इस प्रकार विद्वान् शान्तिको प्राप्त हो जाता है॥ ८६॥

विप्राणां ब्राह्मणानां विनयो विनीतत्वं स्वाभाविकं यदेतदात्म-स्वरूपेणावस्थानम्। एष विनयः शमोऽप्येष एव प्राकृतः स्वाभाविको-

ब्राह्मणोंका जो यह आत्मस्वरूपसे स्थित होनारूप विनय—विनीतत्व है वह स्वाभाविक है। उनका यह विनय और यही प्राकृत—स्वाभाविक

ऽकृतक उच्यते। दमोऽप्येष एव प्रकृतिदान्तत्वात्स्वभावत एव चोपशान्तरूपत्वाद्ब्रह्मणः। एवं यथोक्तं स्वभावोपशान्तं ब्रह्म विद्वाञ्शममुपशान्तिं स्वाभाविकीं ब्रह्मस्वरूपां व्रजेद्ब्रह्म-स्वरूपेणावतिष्ठत इत्यर्थः॥ ८६॥

अर्थात् अकृतक शम भी कहा जाता है। ब्रह्मस्वभावसे ही उपशान्तरूप है, अतः प्रकृतितः दान्त होनेके कारण यही उनका दम भी है। इस प्रकार उपर्युक्त स्वभावतः शान्त ब्रह्मको जाननेवाला पुरुष शम—ब्रह्मस्वरूपा स्वाभाविकी उपशान्तिको प्राप्त हो जाता है, अर्थात् ब्रह्मरूपसे स्थित हो जाता है॥ ८६॥



त्रिविध ज्ञेय

एवमन्योन्यविरुद्धत्वात्संसार-कारणानि रागद्वेषदोषास्पदानि प्रावादुकानां दर्शनानि। अतो मिथ्यादर्शनानि तानीति तद्युक्तिभि-रेव दर्शयित्वा चतुष्कोटि-वर्जितत्वाद्रागादिदोषानास्पदं स्वभाव-शान्तमद्वैतदर्शनमेव सम्यग्-दर्शनमित्युपसंहतम्। अथेदानीं स्व-प्रक्रियाप्रदर्शनार्थ आरम्भः—

इस प्रकार एक-दूसरेसे विरुद्ध होनेके कारण प्रावादुकों (वादियों) के दर्शन संसारके कारणस्वरूप राग-द्वेषादि दोषोंके आश्रय हैं। अतः वे मिथ्या दर्शन हैं—यह बात उन्हींकी युक्तियोंसे दिखलाकर चारों कोटियोंसे रहित होनेके कारण रागादि दोषोंका अनाश्रयभूत स्वभावतः शान्त अद्वैतदर्शन ही सम्यग्दर्शन है—इस प्रकार उपसंहार किया गया। अब यहाँसे अपनी प्रक्रिया दिखलानेके लिये आरम्भ किया जाता है—

सवस्तु सोपलम्भं च द्वयं लौकिकमिष्यते।
अवस्तु सोपलम्भं च शुद्धं लौकिकमिष्यते॥ ८७॥

वस्तु और उपलब्धि दोनोंके सहित जो द्वैत है उसे लौकिक (जाग्रत्) कहते हैं तथा जो द्वैत वस्तुके बिना केवल उपलब्धिके सहित है, उसे शुद्ध लौकिक (स्वप्न) कहते हैं॥ ८७॥

लौकिकम्

सवस्तु संवृतिसता वस्तुना सह वर्तत इति सवस्तु, तथा चोपलब्धिरुपलम्भस्तेन सह वर्तत इति सोपलम्भं च शास्त्रादिसर्वव्यवहारास्पदं ग्राह्यग्राहकलक्षणं द्वयं लौकिकं लोकादनपेतं लौकिकं जागरितमित्येतत्। एवंलक्षणं जागरितमिष्यते वेदान्तेषु।

सवस्तु—व्यावहारिक सत् वस्तुके सहित रहता है, इसलिये जो सवस्तु है तथा उपलम्भ यानी उपलब्धिके सहित है, इसलिये जो 'सोपलम्भ' है, ऐसा शास्त्रादि सम्पूर्ण व्यवहारका आश्रयभूत ग्राह्यग्रहणरूप जो द्वैत है वह 'लौकिक'—लोकसे दूर न रहनेवाला अर्थात् जाग्रत् कहलाता है। वेदान्तोंमें जागरितको ऐसे लक्षणोंवाला माना है।

शुद्धलौकिकम्

अवस्तु संवृतेरप्यभावात्। सोपलम्भं वस्तुवदुपलम्भनमुपलम्भोऽसत्यपि वस्तुनि तेन सह वर्तत इति सोपलम्भं च। शुद्धं केवलं प्रविभक्तं जागरितात्स्थूला-

संवृतिका भी अभाव होनेके कारण जो 'अवस्तु' है—किन्तु 'सोपलम्भ' है—वस्तुके न होनेपर भी वस्तुके समान उपलब्ध होना 'उपलम्भ' कहलाता है, उसके सहित होनेके कारण जो 'सोपलम्भ' है, वह सम्पूर्ण प्राणियोंके लिये साधारण होनेके कारण शुद्ध—केवल अर्थात् जागरितरूप स्थूल लौकिकसे

लौकिकं सर्वप्राणिसाधारणत्वादिष्यते स्वप्न इत्यर्थः॥ ८७॥

भिन्न लौकिक माना जाता है; अर्थात् वह स्वप्नावस्था है॥ ८७॥



अवस्त्वनुपलम्भं च लोकोत्तरमिति स्मृतम्।
ज्ञानं ज्ञेयं च विज्ञेयं सदा बुद्धैः प्रकीर्तितम्॥ ८८॥

जो वस्तु और उपलब्धि दोनोंसे रहित है वह अवस्था लोकोत्तर (सुषुप्ति) मानी गयी है। इस प्रकार विद्वानोंने सर्वदा ही [अवस्थात्रयरूप] ज्ञान और ज्ञेय तथा [तुरीयरूप] विज्ञेयका निरूपण किया है॥ ८८॥

अवस्त्वनुपलम्भं च ग्राह्यग्रहणवर्जितमित्येतत्, लोकोत्तरम् **लोकोत्तरम् अत एव लोकातीतम्। ग्राह्यग्रहणविषयो हि लोकस्तदभावात्सर्वप्रवृत्तिबीजं सुषुप्तमित्येतदेवं स्मृतम्।**

अवस्तु और अनुपलम्भ अर्थात् ग्राह्य और ग्रहणसे रहित जो अवस्था है वह 'लोकोत्तर' अतएव 'लोकातीत' कहलाती है, क्योंकि ग्राह्य और ग्रहणका विषय ही लोक है। उसका अभाव होनेके कारण वह सुषुप्त-अवस्था सम्पूर्ण प्रवृत्तियोंकी बीजभूता है—ऐसा माना गया है।

सोपायं परमार्थतत्त्वं लौकिकं शुद्धलौकिकं लोकोत्तरं च क्रमेण येन ज्ञानेन ज्ञायते तज्ज्ञानम्। ज्ञेयमेतान्येव त्रीणि। एतद्व्यतिरेकेण ज्ञेयानुपपत्तेः सर्वप्रावादुक-

उपायके सहित परमार्थतत्त्व तथा लौकिक, शुद्ध लौकिक और लोकोत्तर अवस्थाओंका जिस ज्ञानके द्वारा क्रमशः बोध होता है, उसे 'ज्ञान' कहते हैं तथा ये तीनों अवस्थाएँ ही 'ज्ञेय' हैं, क्योंकि समस्त वादियोंकी

कल्पितवस्तुनोऽत्रैवान्तर्भावात्। विज्ञेयं परमार्थसत्यं तुर्याख्यमद्वय-मजमात्मतत्त्वमित्यर्थः। सदा सर्वदा एतल्लौकिकादिविज्ञेयान्तं बुद्धैः परमार्थदर्शिभिर्ब्रह्मविद्भिः प्रकीर्तितम्॥ ८८॥

कल्पना की हुई वस्तुओंका इन्हींमें अन्तर्भाव होनेके कारण इनके सिवा किसी अन्य ज्ञेयका होना सम्भव नहीं है। जो परमार्थसत्य तुरीयसंज्ञक अद्वय-अजन्मा आत्मतत्त्व है वही 'विज्ञेय' है। ऐसा इसका अभिप्राय है। उन लौकिकसे लेकर विज्ञेयपर्यन्त सम्पूर्ण वस्तुओंका परमार्थदर्शी विद्वानोंने सदा—सर्वदा ही निरूपण किया है॥ ८८॥

त्रिविध ज्ञेय और ज्ञानका ज्ञाता सर्वज्ञ है

ज्ञाने च त्रिविधे ज्ञेये क्रमेण विदिते स्वयम्।
सर्वज्ञता हि सर्वत्र भवतीह महाधियः॥ ८९॥

ज्ञान और तीन प्रकारके ज्ञेयको क्रमशः जान लेनेपर इस लोकमें उस महाबुद्धिमान्‌को स्वयं ही सर्वत्र सर्वज्ञता हो जाती है॥ ८९॥

ज्ञाने च लौकिकादिविषये, **ज्ञेये च** लौकिकादौ **त्रिविधे**—पूर्वं लौकिकं स्थूलम्, तदभावेन पश्चाच्छुद्धं लौकिकम्, तदभावेन लोकोत्तरमित्येवं **क्रमेण** स्थान-त्रयाभावेन परमार्थसत्ये तुर्ये-ऽद्वयेऽजेऽभये **विदिते स्वयमेवात्म-**

लौकिकादिविषयक ज्ञान और लौकिकादि तीन प्रकारके ज्ञेयको जान लेनेपर, अर्थात् पहले स्थूल लौकिकको, फिर उसके अभावमें शुद्ध लौकिकको तथा उसके भी अभावमें लोकोत्तरको—इस प्रकार क्रमशः तीनों अवस्थाओंके अभावद्वारा परमार्थसत्य अद्वय, अजन्मा और अभयरूप तुरीयको जान लेनेपर, इस लोकमें उस महाबुद्धिको सर्वत्र यानी

स्वरूपमेव सर्वज्ञता सर्वश्चासौ ज्ञश्च सर्वज्ञस्तद्भावः सर्वज्ञता, इहास्मिँल्लोके भवति महाधियो महाबुद्धेः। सर्वलोकातिशयवस्तुविषयबुद्धित्वादेवंविदः सर्वत्र सर्वदा भवति। सकृद्विदिते स्वरूपे व्यभिचाराभावादित्यर्थः। न हि परमार्थविदो ज्ञानोद्भवाभिभवौ स्तो यथान्येषां प्रावादुकानाम्॥ ८९॥

सर्वदा स्वयं आत्मस्वरूप ही सर्वज्ञता—जो सर्वरूप ज्ञ (ज्ञानी) हो उसे 'सर्वज्ञ' कहते हैं, उसीकी भावरूपा सर्वज्ञता प्राप्त होती है, क्योंकि ऐसा जाननेवालेकी बुद्धि सम्पूर्ण लोकसे बढ़ी हुई वस्तुको विषय करनेवाली होती है। तात्पर्य यह है कि स्वरूपका एक बार ज्ञान हो जानेपर उसका कभी व्यभिचार न होनेके कारण [उसकी सर्वज्ञता सर्वदा रहती है], क्योंकि जिस प्रकार अन्य वादियोंके ज्ञानके उदय और अस्त होते रहते हैं उस प्रकार परमार्थवेत्ता ज्ञानीके ज्ञानके उदय और अस्त नहीं होते॥ ८९॥



लौकिकादीनां क्रमेण ज्ञेयत्वेन निर्देशादस्तित्वाशङ्का परमार्थतो मा भूदित्याह—

[उपर्युक्त श्लोकमें] लौकिकादिको क्रमशः ज्ञेयरूपसे बतलाये जानेके कारण उनके परमार्थतः अस्तित्वकी आशंका न हो जाय—इसलिये कहते हैं—

हेयज्ञेयाप्यपाक्यानि विज्ञेयान्यग्रयाणतः।
तेषामन्यत्र विज्ञेयादुपलम्भस्त्रिषु स्मृतः॥ ९०॥

[जाग्रदादि] हेय, [सत्यब्रह्मरूप] ज्ञेय, [पाण्डित्यादि] प्राप्तव्य साधन और [राग-द्वेषादि] प्रशमनीय दोष—ये सबसे पहले जानने योग्य हैं। इनमेंसे ज्ञेय (ब्रह्म)को छोड़कर शेष तीनोंमें तो केवल उपलम्भ (अविद्याकल्पितत्व) ही माना गया है॥ ९०॥

हेयानि च लौकिकादीनि त्रीणि जागरितस्वप्रसुषुमान्यात्मन्यसत्त्वेन रज्ज्वां सर्पवद्धातव्यानीत्यर्थः। ज्ञेयमिह चतुष्कोटिवर्जितं परमार्थतत्त्वम्। आप्यान्याप्तव्यानि त्यक्तबाह्यैषणात्रयेण भिक्षुणा पाण्डित्यबाल्यमौनाख्यानि साधनानि। पाक्यानि रागद्वेषमोहादयो दोषाः कषायाख्यानि पक्तव्यानि। सर्वाण्येतानि हेयज्ञेयाप्यपाक्यानि विज्ञेयानि भिक्षुणोपायत्वेनेत्यर्थः, अग्रयाणतः प्रथमतः।

तेषां हेयादीनामन्यत्र विज्ञेयात्परमार्थसत्यं विज्ञेयं ब्रह्मैकं वर्जयित्वा, उपलम्भनमुपलम्भोऽविद्याकल्पनामात्रम्। हेयाप्यपाक्येषु त्रिष्वपि स्मृतो ब्रह्मविद्भिर्न परमार्थसत्यता त्रयाणामित्यर्थः॥ ९०॥

लौकिकादि तीन हेय हैं। तात्पर्य यह है कि जागरित, स्वप्न और सुषुप्ति—ये तीनों अवस्थाएँ रज्जुमें सर्पके समान आत्मामें असत् होनेके कारण त्यागने योग्य हैं। चारों कोटियोंसे रहित परमार्थतत्त्व ही यहाँ ज्ञेय माना गया है। बाह्य तीनों एषणाओंको त्याग देनेवाले मुमुक्षुके लिये पाण्डित्य, बाल्य और मौन नामक तीन साधन ही आप्य—प्राप्तव्य हैं; तथा राग, द्वेष और मोह आदि कषायसंज्ञक दोष ही [उसके लिये] पाक्य—पाक (जीर्ण) करने योग्य हैं। तात्पर्य यह है कि मुमुक्षुको हेय, ज्ञेय, आप्य और पाक्य इन सबको ही अग्रयाणतः—सबसे पहले अपने साधनरूपसे जानना चाहिये।

उन हेय आदिमेंसे केवल एक परमार्थसत्य ज्ञेय ब्रह्मको छोड़कर शेष हेय, आप्य और पाक्य—इन तीनोंमें ब्रह्मवेत्ताओंने केवल उपलम्भ—उपलम्भन यानी अविद्यामय कल्पनामात्र ही माना है, अर्थात् इन तीनोंकी परमार्थ सत्यता स्वीकार नहीं की है॥ ९०॥



जीव आकाशके समान अनादि और अभिन्न हैं

परमार्थतस्तु—

वास्तवमें तो—

प्रकृत्याकाशवज्ज्ञेयाः सर्वे धर्मा अनादयः।
विद्यते न हि नानात्वं तेषां क्वचन किंचन॥ ९१॥

सम्पूर्ण जीवोंको स्वभावसे ही आकाशके समान और अनादि जानना चाहिये। उनका नानात्व कहीं कुछ भी नहीं है॥ ९१॥

प्रकृत्या स्वभावत आकाशवदाकाशतुल्याः सूक्ष्मनिरञ्जनसर्वगतत्वैः सर्वे धर्मा आत्मानो ज्ञेया मुमुक्षुभिरनादयो नित्याः। बहुवचनकृतभेदाशङ्कां निराकुर्वन्नाह—क्वचन किंचन किंचिदणुमात्रमपि तेषां न विद्यते नानात्वमिति॥ ९१॥

मुमुक्षुओंको सूक्ष्मत्व, निरञ्जनत्व और सर्वगतत्व आदिके कारण सभी धर्मों—जीवोंको प्रकृतिसे अर्थात् स्वभावतः आकाशवत्—आकाशके समान और अनादि यानी नित्य जानना चाहिये। यहाँ बहुवचनके कारण होनेवाले जीवात्माओंके भेदकी आशंकाका निराकरण करते हुए कहते हैं—'उनका क्वचन—कहीं, किञ्चन—कुछ भी अर्थात् अणुमात्र भी नानात्व नहीं है'॥ ९१॥



आत्मतत्त्वनिरूपण

ज्ञेयतापि धर्माणां संवृत्यैव न परमार्थत इत्याह—

आत्माओंकी जो ज्ञेयता है वह भी व्यावहारिक ही है, परमार्थतः नहीं—इसी अभिप्रायसे कहते हैं—

आदिबुद्धाः प्रकृत्यैव सर्वे धर्माः सुनिश्चिताः।
यस्यैवं भवति क्षान्तिः सोऽमृतत्वाय कल्पते॥ ९२॥

सम्पूर्ण आत्मा स्वभावसे ही नित्य बोधस्वरूप और सुनिश्चित हैं—जिसे ऐसा समाधान हो जाता है वह अमरत्व (मोक्ष) प्राप्तिमें समर्थ होता है॥ ९२॥

यस्मादादौ बुद्धा आदिबुद्धाः प्रकृत्यैव स्वभावत एव यथा नित्यप्रकाशस्वरूपः सवितैवं नित्यबोधस्वरूपा इत्यर्थः सर्वे धर्माः सर्व आत्मानः। न च तेषां निश्चयः कर्तव्यो नित्यनिश्चितस्वरूपा इत्यर्थः। न संदिह्यमानस्वरूपा एवं नैवं चेति।

यस्य मुमुक्षोरेवं यथोक्तप्रकारेण सर्वदा बोधनिश्चयनिरपेक्षतात्मार्थं परार्थं वा यथा सविता नित्यं प्रकाशान्तरनिरपेक्षः स्वार्थं परमार्थं चेत्येवं भवति क्षान्तिर्बोधकर्तव्यतानिरपेक्षता सर्वदा स्वात्मनि सोऽमृतत्वायामृतभावाय कल्पते मोक्षाय समर्थो भवतीत्यर्थः॥ ९२॥

क्योंकि जिस प्रकार सूर्य नित्य प्रकाशस्वरूप है उसी प्रकार सम्पूर्ण धर्म यानी आत्मा प्रकृति—स्वभावसे ही आदिबुद्ध—आरम्भमें ही जाने हुए अर्थात् नित्य बोधस्वरूप हैं। उनका निश्चय भी नहीं करना है; अर्थात् वे नित्यनिश्चितस्वरूप हैं—'ऐसे हैं अथवा नहीं हैं' इस प्रकार सन्दिग्धस्वरूप नहीं हैं।

जिस मुमुक्षुको इस तरह—उपर्युक्त प्रकारसे अपने अथवा परायेके लिये सर्वदा बोधनिश्चय-सम्बन्धिनी निरपेक्षता है; जिस प्रकार सूर्य अपने अथवा परायेके लिये सदा ही प्रकाशान्तरकी अपेक्षा नहीं करता उसी प्रकार जिसे सर्वदा अपने आत्मामें क्षान्ति-बोधकर्तव्यताकी निरपेक्षता रहती है वह अमृतत्व—अमृतभाव अर्थात् मोक्षके लिये समर्थ होता है॥ ९२॥



तथा नापि शान्तिकर्तव्यतात्मनीत्याह—

इसी प्रकार आत्मामें शान्तिकर्तव्यता भी नहीं है—इसी आशयसे कहते हैं—

आदिशान्ता ह्यनुत्पन्नाः प्रकृत्यैव सुनिर्वृताः।
सर्वे धर्माः समाभिन्ना अजं साम्यं विशारदम्॥ ९३॥

सम्पूर्ण आत्मा नित्यशान्त, अजन्मा, स्वभावसे ही अत्यन्त उपरत तथा सम और अभिन्न हैं। [इस प्रकार क्योंकि] आत्मतत्त्व अज, समतारूप और विशुद्ध है [इसलिये उसकी शान्ति अथवा मोक्ष कर्तव्य नहीं है]॥ ९३॥

यस्मादादिशान्ता नित्यमेव शान्ता अनुत्पन्ना अजाश्च प्रकृत्यैव सुनिर्वृताः सुष्ठूपरतस्वभावा इत्यर्थः, सर्वे धर्माः समाश्चाभिन्नाश्च समाभिन्नाः, अजं साम्यं विशारदं विशुद्धमात्मतत्त्वं यस्मात्तस्माच्छान्तिर्मोक्षो वा नास्ति कर्तव्य इत्यर्थः, न हि नित्यैकस्वभावस्य कृतं किंचिदर्थवत्स्यात्॥ ९३॥

क्योंकि सम्पूर्ण धर्म आदिशान्त—सर्वदा ही शान्तस्वरूप, अनुत्पन्न—अजन्मा, स्वभावसे ही सुनिर्वृत अर्थात् अत्यन्त उपरत स्वभाववाले हैं; तथा सम और अभिन्न हैं; इस प्रकार, क्योंकि आत्मतत्त्व अजन्मा, समतारूप और विशुद्ध है, इसलिये उसकी शान्ति अथवा मोक्ष कर्तव्य नहीं है—यह इसका अभिप्राय है, क्योंकि उस नित्य एकस्वभावके लिये कुछ भी करना सार्थक नहीं हो सकता॥ ९३॥



आत्मज्ञ ही अकृपण है

ये यथोक्तं परमार्थतत्त्वं प्रतिपन्नास्ते एवाकृपणा लोके कृपणा एवान्य इत्याह—

जो लोग उपर्युक्त परमार्थतत्त्वको समझते हैं लोकमें वे ही अकृपण हैं, उनके सिवा और सब तो कृपण ही हैं—इसी भावको लेकर कहते हैं—

वैशारद्यं तु वै नास्ति भेदे विचरतां सदा।
भेदनिम्नाः पृथग्वादास्तस्मात्ते कृपणाः स्मृताः ॥ ९४ ॥

जो लोग सर्वदा भेदमें ही विचरते रहते हैं, निश्चय ही उनकी विशुद्धि नहीं होती। द्वैतवादी लोग भेदकी ही ओर प्रवृत्त होनेवाले हैं; इसलिये वे कृपण (दीन) माने गये हैं॥ ९४॥

यस्माद्भेदनिम्ना भेदानुयायिनः संसारानुगा इत्यर्थः; के? पृथग्वादाः पृथङ्नाना वस्त्वित्येवं वदनं येषां ते पृथग्वादा द्वैतिन इत्यर्थः, तस्मात्ते कृपणाः क्षुद्राः स्मृताः; यस्माद्वैशारद्यं विशुद्धिर्नास्ति तेषां भेदे विचरतां द्वैतमार्गेऽविद्याकल्पिते सर्वदा वर्तमानानामित्यर्थः। अतो युक्तमेव तेषां कार्पण्यमित्यभिप्रायः॥ ९४॥

क्योंकि वे भेदनिम्न—भेदानुयायी अर्थात् संसारके अनुगामी हैं, कौन लोग? पृथग्वादी—'पृथक् अर्थात् नाना वस्तु है'—ऐसा जिनका कथन है वे पृथग्वादी अर्थात् द्वैतीलोग, इसलिये वे कृपण—क्षुद्र माने गये हैं; क्योंकि भेद अर्थात् अविद्यापरिकल्पित द्वैतमार्गमें सर्वदा विचरनेवाले उन लोगोंका वैशारद्य अर्थात् विशुद्धि नहीं होती। अतः उनका कृपण होना ठीक ही है—ऐसा इसका अभिप्राय है॥ ९४॥

आत्मज्ञका महाज्ञानित्व

यदिदं परमार्थतत्त्वममहात्मभिरपण्डितैर्वेदान्तबहिःष्ठैः क्षुद्रैरल्पप्रज्ञैरनवगाह्यमित्याह—

यह जो परमार्थतत्त्व है वह क्षुद्रचित्त अविवेकी तथा वेदान्तके अनधिकारी क्षुद्र और मन्दबुद्धि पुरुषोंकी समझमें नहीं आ सकता—इस आशयसे कहते हैं—

अजे साम्ये तु ये केचिद्भविष्यन्ति सुनिश्चिताः।
ते हि लोके महाज्ञानास्तच्च लोको न गाहते॥ ९५॥

जो कोई उस अज और साम्यरूप परमार्थतत्त्वमें अत्यन्त निश्चित होंगे वे ही लोकमें परम ज्ञानी हैं। उस तत्त्वका सामान्य लोक अवगाहन नहीं कर सकता॥ ९५॥

अजे साम्ये परमार्थतत्त्व एवमेवेति ये केचित्स्त्र्यादयोऽपि सुनिश्चिता भविष्यन्ति चेत्त एव हि लोके महाज्ञाना निरतिशयतत्त्वविषयज्ञाना इत्यर्थः।

तच्च तेषां वर्त्म तेषां विदितं परमार्थतत्त्वं सामान्यबुद्धिरन्यो लोको न गाहते नावतरति न विषयीकरोतीत्यर्थः। "सर्वभूतात्मभूतस्य सर्वभूतहितस्य च। देवा अपि मार्गे मुह्यन्त्यपदस्य पदैषिणः। शकुनीनामिवाकाशे गतिर्नैवोपलभ्यते" (महा० शा० २३९। २३, २४) इत्यादिस्मरणात्॥ ९५॥

उस अज और साम्यरूप परमार्थतत्त्वमें जो कोई—स्त्री आदि भी 'यह ऐसा ही है' इस प्रकार पूर्णतया निश्चित होंगे वे ही लोकमें महाज्ञानी अर्थात् निरतिशय तत्त्वविषयक ज्ञानवाले हैं।

उस—उनके मार्ग अर्थात् उन्हें विदित हुए परमार्थतत्त्वमें अन्य साधारण बुद्धिवाला मनुष्य अवगाहन-अवतरण नहीं करता अर्थात् उसे विषय नहीं कर सकता। "जो सम्पूर्ण भूतोंका आत्मभूत और सब प्राणियोंका हितकारी है उस पदरहित (प्राप्य पुरुषार्थहीन) महात्माके पदको जाननेकी इच्छावाले देवता भी उसके मार्गमें मोहको प्राप्त हो जाते हैं तथा आकाशमें जैसे पक्षियोंका मार्ग नहीं मिलता उसी प्रकार उसकी गतिका पता नहीं चलता" इत्यादि स्मृतिसे भी यही प्रमाणित होता है॥ ९५॥



कथं महाज्ञानत्वमित्याह—

उनका महाज्ञानत्व किस प्रकार है? सो बतलाते हैं—

अजेष्वजमसंक्रान्तं धर्मेषु ज्ञानमिष्यते।
यतो न क्रमते ज्ञानमसङ्गं तेन कीर्तितम्॥ ९६॥

अजन्मा आत्माओंमें स्थित अज (नित्य) ज्ञान असंक्रान्त (अन्य विषयोंसे न मिलनेवाला) माना जाता है। क्योंकि वह ज्ञान अन्य विषयोंमें संक्रमित नहीं होता इसलिये उसे असंग बतलाया गया है॥ ९६॥

अजेष्वनुत्पन्नेष्वचलेषु धर्मेष्वात्मस्वजमचलं च ज्ञानमिष्यते सवितरीवौष्ण्यं प्रकाशश्च यतस्तस्मादसंक्रान्तमर्थान्तरे ज्ञानमजमिष्यते। यस्मान्न क्रमतेऽर्थान्तरे ज्ञानं तेन कारणेनासङ्गं तत्कीर्तितमाकाशकल्पमित्युक्तम्॥ ९६॥

क्योंकि अज—अनुत्पन्न यानी अचल धर्मों—आत्माओंमें सूर्यमें उष्णता और प्रकाशके समान अज अर्थात् अचल ज्ञान माना जाता है, अतः अर्थान्तरमें असंक्रान्त (अननुप्रविष्ट) ज्ञानको अजन्मा (नित्य) स्वीकार किया जाता है। क्योंकि वह ज्ञान दूसरे विषयोंमें संक्रमित नहीं होता, इसलिये उसे असंग कहा गया है; अर्थात् वह आकाशके समान है—ऐसा कहा है॥ ९६॥



जातवादमें दोषप्रदर्शन

अणुमात्रेऽपि वैधर्म्ये जायमानेऽविपश्चितः।
असङ्गता सदा नास्ति किमुतावरणच्युतिः॥ ९७॥

[अन्य वादियोंके मतानुसार] किसी अणुमात्र भी विधर्मी वस्तुकी उत्पत्ति माननेपर तो अविवेकी पुरुषकी असंगता भी कभी नहीं हो सकती; फिर उसके आवरणनाशके विषयमें तो कहना ही क्या है?॥ ९७॥

इतोऽन्येषां वादिनामणुमात्रेऽपि वैधर्म्ये वस्तुनि बहिरन्तर्वा जायमान उत्पाद्यमानेऽविपश्चितोऽविवेकिनोऽसङ्गता असङ्गत्वं सदा नास्ति किमुत वक्तव्यमावरणच्युतिर्बन्धनाशो नास्तीति॥ ९७॥

इससे भिन्न जो अन्य वादी हैं उनके मतानुसार अणुमात्र अर्थात् थोड़ी-सी भी विधर्मी वस्तुके बाहर या भीतर उत्पन्न होनेपर तो अविपश्चित्—अविवेकी पुरुषकी कभी असङ्गता भी नहीं हो सकती, फिर उसकी आवरणच्युति अर्थात् बन्धनाश नहीं होता—इसके सम्बन्धमें तो कहना ही क्या है?॥ ९७॥



आत्माका स्वाभाविक स्वरूप

तेषामावरणच्युतिर्नास्तीति ब्रुवतां स्वसिद्धान्तेऽभ्युपगतं तर्हि धर्माणामावरणम्। नेत्युच्यते।

उनकी आवरणच्युति नहीं होती—ऐसा कहकर तो तुमने अपने सिद्धान्तमें भी आत्माओंका आवरण स्वीकार कर लिया [—ऐसा यदि कोई कहे तो] इसपर हमारा कहना है—नहीं।

अलब्धावरणाः सर्वे धर्माः प्रकृतिनिर्मलाः।
आदौ बुद्धास्तथा मुक्ता बुध्यन्त इति नायकाः॥ ९८॥

समस्त आत्मा आवरणशून्य, स्वभावसे ही निर्मल तथा नित्य बुद्ध और मुक्त हैं। तथापि स्वामीलोग (वेदान्ताचार्यगण) 'वे जाने जाते हैं' ऐसा [उनके विषयमें कहते हैं]॥ ९८॥

अलब्धावरणाः—अलब्धमप्राप्तमावरणमविद्यादिबन्धनं येषां ते धर्मा अलब्धावरणा बन्धनरहिता इत्यर्थः, प्रकृतिनिर्मलाः

'अलब्धावरणाः'—जिन्हें आवरण अर्थात् अविद्यादिरूप बन्धन लाभ अर्थात् प्राप्त नहीं हुआ है वे धर्म अलब्धावरण अर्थात् बन्धनरहित, प्रकृति-निर्मल-

स्वभावशुद्धा आदौ बुद्धास्तथा मुक्ता यस्मान्नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावाः।

यद्येवं कथं तर्हि बुध्यन्त इत्युच्यते?

नायकाः स्वामिनः समर्था बोद्धुं बोधशक्तिमत्स्वभावा इत्यर्थः, यथा नित्यप्रकाशस्वरूपोऽपि सविता प्रकाशत इत्युच्यते यथा वा नित्यनिवृत्तगतयोऽपि नित्यमेव शैलास्तिष्ठन्तीत्युच्यते तद्वत्॥ ९८॥

स्वभावसे ही शुद्ध और आरम्भमें ही बोधको प्राप्त हुए तथा मुक्तस्वरूप हैं, क्योंकि वे नित्य शुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव हैं।

शंका—यदि ऐसी बात है तो उनके विषयमें 'वे जाने जाते हैं' ऐसा क्यों कहा जाता है?

समाधान—नायक—स्वामी लोग—जाननेमें समर्थ अर्थात् बोधशक्तियुक्त स्वभाववाले लोग उनके विषयमें उसी प्रकार ऐसा कहते हैं जैसे कि नित्य प्रकाशस्वरूप होनेपर भी सूर्यके विषयमें 'सूर्य प्रकाशमान है' ऐसा कहा जाता है तथा सर्वदा गतिशून्य होनेपर भी 'पर्वत खड़े हैं' ऐसा कहा जाता है॥ ९८॥



अजातवाद बौद्धदर्शन नहीं है

क्रमते न हि बुद्धस्य ज्ञानं धर्मेषु तायिनः।
सर्वे धर्मास्तथा ज्ञानं नैतद्बुद्धेन भाषितम्॥ ९९॥

अखण्ड प्रज्ञानवान् परमार्थदर्शीका ज्ञान धर्मों (विषयों) में संक्रमित नहीं होता और न [उसके मतमें] सम्पूर्ण धर्म (आत्मा) ही कहीं जाते हैं। परन्तु ऐसा ज्ञान बुद्धदेवने नहीं कहा [अर्थात् यह बौद्ध-सिद्धान्त नहीं है, बल्कि औपनिषद दर्शन है]॥ ९९॥

यस्मान्न हि क्रमते बुद्धस्य परमार्थदर्शिनो ज्ञानं विषयान्तरेषु धर्मेषु धर्मसंस्थं सवितरीव प्रभा, तायिनः तायोऽस्यास्तीति तायी, संतानवतो निरन्तरस्याकाशकल्पस्येत्यर्थः, पूजावतो वा प्रज्ञावतो वा, सर्वे धर्मा आत्मानोऽपि तथा ज्ञानवदेवाकाशकल्पत्वान्न क्रमन्ते क्वचिदप्यर्थान्तर इत्यर्थः।

यदादावुपन्यस्तं ज्ञानेनाकाशकल्पेनेत्यादि तदिदमाकाशकल्पस्य तायिनो बुद्धस्य तदनन्यत्वादाकाशकल्पं ज्ञानं न क्रमते क्वचिदप्यर्थान्तरे। तथा धर्मा इति। आकाशमिवाचलमविक्रियं निरवयवं नित्यमद्वितीयमसङ्गमदृश्यमग्राह्यमशनायाद्यतीतं ब्रह्मात्मतत्त्वम्। ''न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते'' (बृ० उ० ४। ३। २३) इति श्रुतेः।

तायी—जिसका ताय यानी (विस्तार) हो उसे तायी कहते हैं। क्योंकि तायी—सन्तानवान्—निरन्तर अर्थात् आकाशसदृश पूजावान् अथवा प्रज्ञावान् बुद्ध—परमार्थदर्शीका ज्ञान धर्मोंमें—विषयान्तरोंमें संक्रमित नहीं होता, अपितु सूर्यमें प्रकाशकी भाँति आत्मनिष्ठ रहता है, उसी प्रकार सम्पूर्ण धर्म अर्थात् आत्मा भी ज्ञानके समान ही आकाशसदृश होनेके कारण कभी अर्थान्तरमें संक्रमित नहीं होते अर्थात् नहीं जाते।

इस प्रकरणके आरम्भमें जिसका 'ज्ञानेनाकाशकल्पेन' इत्यादि श्लोकद्वारा उपन्यास किया गया है, आकाशसदृश निरन्तर बोधवान्का—उससे अभिन्न होनेके कारण—वही यह आकाशसदृश ज्ञान कभी अर्थान्तरमें संक्रमित नहीं होता; और ऐसे ही धर्म भी हैं अर्थात् वे भी आकाशके समान अचल, अविक्रिय, निरवयव, नित्य, अद्वितीय, असंग, अदृश्य, अग्राह्य और क्षुधा-पिपासादिसे रहित ब्रह्मात्मतत्त्व ही हैं; जैसा कि ''द्रष्टाकी दृष्टिका लोप नहीं होता'' इस श्रुतिसे सिद्ध होता है।

ज्ञानज्ञेयज्ञातृभेदरहितं परमार्थतत्त्वमद्वयम् एतन्न बुद्धेन भाषितम्। यद्यपि बाह्यार्थनिराकरणं ज्ञानमात्रकल्पना चाद्वयवस्तुसामीप्यमुक्तम्। इदं तु परमार्थतत्त्वमद्वैतं वेदान्तेष्वेव विज्ञेयमित्यर्थः॥ ९९॥

ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाताके भेदसे रहित इस अद्वय परमार्थतत्त्वका बुद्धने निरूपण नहीं किया; यद्यपि उसने बाह्यवस्तुका निराकरण और केवल ज्ञानकी ही कल्पना—ये अद्वय वस्तुके समीपवर्ती ही विषय कहे हैं; तात्पर्य यह है कि इस अद्वैत परमार्थतत्त्वको तो वेदान्तका ही विषय जानना चाहिये॥ ९९॥



परमार्थपद-वन्दना

शास्त्रसमाप्तौ परमार्थतत्त्वस्तुत्यर्थं नमस्कार उच्यते—

अब शास्त्रकी समाप्ति होनेपर परमार्थतत्त्वकी स्तुतिके लिये नमस्कार कहा जाता है—

दुर्दर्शमतिगम्भीरमजं साम्यं विशारदम्।
बुद्ध्वा पदमनानात्वं नमस्कुर्मो यथाबलम्॥ १००॥

दुर्दर्श, अत्यन्त गम्भीर, अज, निर्विशेष और विशुद्ध पदको भेदरहित जानकर हम उसे यथाशक्ति नमस्कार करते हैं॥ १००॥

दुर्दर्शं दुःखेन दर्शनमस्येति दुर्दर्शम्, अस्ति नास्तीति चतुष्कोटिवर्जितत्वाद्दुर्विज्ञेयमित्यर्थः। अत एवातिगम्भीरं दुष्प्रवेशं महासमुद्रवदकृतप्रज्ञैः, अजं

जिसका कठिनतासे दर्शन हो सकता है ऐसे दुर्दर्श अर्थात् अस्ति-नास्ति आदि चारों कोटियोंसे रहित होनेके कारण दुर्विज्ञेय, अतएव अति गम्भीर—मन्दबुद्धियोंके लिये महासमुद्रके

साम्यं विशारदम्, ईदृक्पदमनानात्वं नानात्ववर्जितं बुद्ध्वावगम्य तद्भूताः सन्तो नमस्कुर्मस्तस्मै पदाय, अव्यवहार्यमपि व्यवहारगोचरमापाद्य यथाबलं यथाशक्तीत्यर्थः ॥ १०० ॥

समान दुष्प्रवेश्य तथा अजन्मा, साम्यरूप (निर्विशेष) और विशुद्ध—ऐसे पदको भेदरहित जानकर तद्रूप हो और उस अव्यवहार्यपदको भी व्यवहारका विषय बनाकर हम उसको यथाबल—यथाशक्ति नमस्कार करते हैं ॥ १०० ॥



भाष्यकारकर्तृक वन्दना

अजमपि जनियोगं प्रापदैश्वर्ययोगा-
दगति च गतिमत्तां प्रापदेकं ह्यनेकम्।
विविधविषयधर्मग्राहिमुग्धेक्षणानां
प्रणतभयविहन्तृ ब्रह्म यत्तन्नतोऽस्मि ॥ १ ॥

जिसने अजन्मा होकर भी अपनी ईश्वरीय शक्तिके योगसे जन्म ग्रहण किया, गतिशून्य होनेपर भी गति स्वीकार की तथा जो नाना प्रकारके विषयरूप धर्मोंको ग्रहण करनेवाले मूढदृष्टि लोगोंके विचारसे एक होकर भी अनेक हुआ है और जो शरणागतभयहारी है उस ब्रह्मको मैं नमस्कार करता हूँ ॥ १ ॥

प्रज्ञावैशाखवेधक्षुभितजलनिधेर्वेदनाम्नोऽन्तरस्थं
भूतान्यालोक्य मग्नान्यविरतजननग्राहघोरे समुद्रे।
कारुण्यादुद्दधारामृतमिदममरैर्दुर्लभं भूतहेतो-
र्यस्तं पूज्याभिपूज्यं परमगुरुममुं पादपातैर्नतोऽस्मि ॥ २ ॥

जो निरन्तर जन्म-जन्मान्तररूप ग्राहोंके कारण अत्यन्त भयानक है ऐसे संसारसागरमें जीवोंको डूबे हुए देखकर जिन्होंने करुणावश अपनी विशुद्ध

बुद्धिरूप मन्थनदण्डके आघातसे क्षुभित हुए वेद नामक महासमुद्रके भीतर स्थित इस देवदुर्लभ अमृतको प्राणियोंके कल्याणके लिये निकाला है, उन पूजनीयोंके भी पूजनीय परम गुरु (श्रीगौडपादाचार्य) को मैं उनके चरणोंमें गिरकर प्रणाम करता हूँ॥ २॥

यत्प्रज्ञालोकभासा प्रतिहतिमगमत्स्वान्तमोहान्धकारो
मज्जोन्मज्जच्च घोरे ह्यसकृदुपजनोदन्वति त्रासने मे।
यत्पादावाश्रितानां श्रुतिशमविनयप्राप्तिरग्र्या ह्यमोघा
तत्पादौ पावनीयौ भवभयविनुदौ सर्वभावैर्नमस्ये॥ ३॥

जिनके ज्ञानालोककी प्रभासे मेरे अन्तःकरणका मोहरूप अन्धकार नाशको प्राप्त हुआ तथा इस भयङ्कर संसारसागरमें बारम्बार डूबना-उछलनारूप मेरी व्यथाएँ शान्त हो गयीं और जिनके चरणोंका आश्रय लेनेवालोंके लिये श्रुतिज्ञान, उपशम और विनयकी प्राप्ति अमोघ एवं पहले ही होनेवाली है उन (श्रीगुरुदेवके) भवभयहारी परम पवित्र चरण-युगलोंको मैं सर्वतोभावसे नमस्कार करता हूँ॥ ३॥

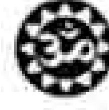


इति श्रीगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यस्य परमहंसपरिव्राजकाचार्यस्य
शङ्करभगवतः कृतौ गौडपादीयागमशास्त्रविवरणेऽलातशान्त्याख्यं
चतुर्थं प्रकरणम्॥ ४॥



ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!





शान्तिपाठ

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा

भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।

स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाꣳसस्तनूभि-

र्व्यशेम देवहितं यदायुः॥

स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः

स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः।

स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः

स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु॥

ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!



॥ हरिः ॐ तत्सत्॥

॥ श्रीहरिः ॥

गौडपादीयकारिकानुक्रमणिका



॥ श्रीहरि: ॥

मन्त्राणां वर्णानुक्रमणिका

